संकलन

(चुने हुए लेखों का संग्रह)

महावीरप्रसाद द्विवेदी
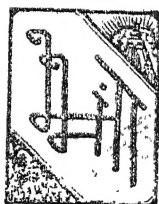
भारती-भण्डार, काशी

१६८८

निवेदन

पूज्य आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे हुए लेखों का एक बड़ा संग्रह "विचार-विमर्श" के नाम से, क्रम के विचार से इस पुस्तक से पहले और समय के विचार से इस पुस्तक के साथ ही, प्रकाशित हुआ है। द्विवेदी जी के इस प्रकार के लेख-संग्रहों के सम्बन्ध में हमें जो कुछ कहना था, वह विचार-विमर्श के आरम्भ में निवेदित हो चुका है। अतः यहाँ उन बातों को दोहराने अथवा उन्हीं के समान कुछ और बातें कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इस "संकलन" में द्विवेदी जी के उन फुटकर, परन्तु फिर भी उपयोगी तथा शिक्षाप्रद, लेखों का संग्रह है जो आपने समय समय पर "सरस्वती" में प्रकाशित किये थे। विचार-विमर्श में संगृहीत लेखों के समान इन लेखों का भी बहुत कुछ स्थायी महत्व तथा मूल्य है; और इस दृष्टि से यह संग्रह भी, आशा है, हिन्दी संसार में अपने लिये वह विशेष स्थान प्राप्त करेगा, जिसका यह वस्तुतः अधिकारी है।

द्विवेदी जी के इन दोनों लेख-संग्रहों को प्रकाशनार्थ प्राप्त करके यह भांडार कितना अधिक उपकृत हुआ है और कृतज्ञता का कितना अधिक भाव रखता है, यह शब्दों में व्यक्त करने की बात नहीं है। वास्तविक कृतज्ञता का द्योतक तो मौन होता है; अतः हमारे लिये भी वही मौन भाव ग्रहण करना श्रेयस्कर है। किमधिकम्।

काशी
मकर संक्रान्ति १९८८

प्रकाशक।

विषय-सूची

सङ्कलन

१

तारीख से दिन निकालने की रीति

यह जानने की बहुधा आवश्यकता हुआ करती है कि किस तारीख़ को कौन दिन था अथवा किस तारीख़ को कौन दिन होगा। इसके लिए पञ्चाङ्ग और जन्त्रियाँ ढूँढ़नी पड़ती हैं और उनके न मिलने से दिन जानने में देरी होती है। यदि दो चार महीने आगे अथवा पीछे की तारीख़ का दिन जानना होता है तो इसका पता शीघ्र लग जाता है; परन्तु सौ दो सौ वर्ष आगे पीछे के किसी दिन को जानने की जब आवश्यकता होती है, तब बड़ी कठिनाई आ पड़ती है; इसलिए तारीख से दिन जानने की एक सरल रीति हम यहाँ पर लिखते हैं।

जिस तारीख़ का दिन जानना हो, उस तारीख़ समेत उस वर्ष के जितने दिन बीते हों, उनको अलग रक्खो। फिर उस वर्ष के पिछले सन् को सवाया करके जोड़ दो। सवाया करने में यदि पूरा अङ्क न आवे तो उस अपूर्ण अङ्क को छोड़ दो। जिस वर्ष के जिस महीने की जिस तारीख़ का दिन निकालना है, उस वर्षवाले शतक के पहले के जितने शतक ४०० से कट जाएँ, उतने कम कर के, बचे हुए शतकों को पहले के जोड़ से घटा दो। जो कुछ बचे उसमें ७ का भाग दो। भाग देने से यदि—

० बचे तो रविवार	४ बचे तो गुरुवार
१ ,, सोमवार	५ ,, शुक्रवार
२ ,, मङ्गलवार	६ ,, शनिवार
३ ,, बुधवार	होगा।

उदाहरण—कल्पना करो कि आज सन् १६०१ के दिसम्बर की १८ तारीख़ है; और आज बुधवार है। आज समेत इस वर्ष के ३५२ दिन हुए। इन दिनों में १६०१ के पिछले सन् १६०० का सवाया (१६००+४७५) २३७५ जोड़ने से २७२७ हुए। १६०० तक १६ शतक हुए, जिनमें से ४ शतक अर्थात् चौथा, आठवाँ, बारहवाँ और सोलहवाँ ४०० से कट जाता है, इसलिए १६ में से ४ निकालने पर १५ बचे। इन १५ को पहले जोड़ २७२७ में से घटाने से २७१२ हुए। इन २७१२ में ७ का भाग देने से—

```
७ ) २७१२ ( ३८७
    २१
    ──
     ६१
     ५६
     ──
      ५२
      ४६
      ──
       ३
```

३ बचे। ३ बचने से बुधवार होता है। और आज बुधवार ही है; इसलिए दिन निकालने की यह रीति ठीक है। [फरवरी १६०२.

प्राण-घातक माला

प्रसिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा ने "प्राण-घातक माला" अथवा अज-विलाप नामक एक नया चित्र, इसी वर्ष, बनाया है। यह चित्र बहुत ही भाव-भरा अतएव मनोहर है। चित्र की कथा इस प्रकार है—

एक देवाङ्गना को मनुष्य-योनि में उत्पन्न होने का शाप हुआ। जिस समय कोई दिव्य वस्तु का उससे स्पर्श हो, उस समय वह अपना मनुष्य-शरीर छोड़ कर फिर देवाङ्गना हो—यह उसके शाप की अवधि हुई। यह देवाङ्गना अयोध्या के राजा अज की रानी इन्दुमती हुई। एक बार अज और इन्दुमती नगर के पास उपवन में विहार कर रहे थे। इन्दुमती अज के अङ्क में थी। उसी समय नारद जी आकाश में गोकर्णेश्वर महादेव के दर्शनों को जा रहे थे। उनकी वीणा पर दिव्य फूलों की एक माला थी। वायु के झोंके से वह माला स्थान-च्युत हो कर इन्दुमती के ऊपर आ गिरी। उसके गिरते ही इन्दुमती के प्राण चल बसे! उसके शाप की अवधि पूरी हो गई। प्राणाधिका इन्दुमती को, इस प्रकार, सहसा

निर्जीव देख कर अज ने हृदय-विदारी विलाप करना आरम्भ किया। इन्दुमती को अङ्क में लिये हुए इसी विलाप-विह्वल अज का राजा रविवर्मा ने यह अद्भुत चित्र खींचा है।

इस कथा का आश्रय लेकर कालिदास ने रघुवंश के आठवें सर्ग में बड़ी ही मनोहारिणी कविता की है। उनके किये हुए अज-विलाप को सुन कर चित्त की अजब हालत हो जाती है। इस विलाप-वर्णन के कोई छब्बीस श्लोक हैं। उनमें से चुने चुने श्लोकों का भावार्थ हम नीचे देते हैं। महाकवि जी कहते हैं कि अत्यन्त साहजिक धीरता को भी छोड़ कर अज, गद्गद स्वर में, रोते हुए, विलपने लगे! तपाने से महा कठिन लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। फिर शोक से सन्तप्त हुए शरीर-धारियों का कलेजा पिघल उठेगा, इसमें कहना ही क्या है? अज का विलाप सुनिए—

"शरीर में छू जाने से महा कोमल फूल भी जब प्राण ले लेते हैं, तब, काल के लिए, जीवों को मारने का सभी कुछ साधन हो सकता है। वह चाहे तो तुच्छ से तुच्छ वस्तु से भी प्राण-हरण कर सकता है। अथवा यों कहिए कि, कोमल वस्तु को वह कोमल ही वस्तु से मारता है। देखो न, अतिशय कोमल तुषार से कमलिनी नष्ट हो जाती है। मेरे ऊपर पड़ी हुई विपत्ति से पहले ही यह उदाहरण हो चुका है। यदि यह माला प्राणहारिणी है तो मुझे क्यों नहीं मार डालती? मैं इसे हृदय पर रक्खे हूँ। ईश्वर की इच्छा से कभी कभी

विष अमृत हो जाता है और अमृत विष ! अथवा निर्दयी ब्रह्मा ने मेरे दुर्दैव के कारण इस माला से वज्र का-सा काम लिया। क्योंकि उसने पेड़ को तो नहीं, किन्तु उसकी आश्रित लता को मार गिराया ! हे प्रिये ! मैंने मन से भी कभी तेरे प्रतिकूल कोई काम नहीं किया। फिर तू क्यों मुझे छोड़े जाती है? पृथ्वी का पति तो मैं केवल शब्दगत—अर्थात् कहने ही भर को—था; पति तो मैं केवल तेरा था; तुझी में मेरी पूर्ण प्रीति थी। रात को, भौंरों का शब्द जिनमें बन्द हो गया है, ऐसे मुकुलित कमल के समान, वायु से हिलती हुई अलकोंवाला यह तेरा मौन मुख मेरे हृदय के टुकड़े टुकड़े किये डालता है। निशा फिर भी निशानाथ को मिलती है; बिछोह हो जाने पर फिर भी चक्रवाकी चक्रवाक के पास पहुँचती है। इसी लिए वे अपने अपने विरह को किसी प्रकार सह भी लेते हैं। परन्तु, तू तो मुझे हमेशा के लिए छोड़ गई। फिर क्यों न मेरे शरीर में दुःसह दाह उत्पन्न हो? नये नये पल्लवों के कोमल बिछौने पर भी तेरा मृदुल अङ्ग दुखने लगता था। अतएव, तू ही कह, किस प्रकार तू इस विषम चिता पर चढ़ना सहन कर सकेगी? हे सुन्दरी ! बजते हुए नूपुरधारी तेरे चरणों का जो अनुग्रह दूसरों को दुर्लभ था, उसका स्मरण सा करता हुआ, फूल रूपी आँसुओं को बरसानेवाला यह अशोक, तेरा शोक कर रहा है। तेरे सुख में सुखी और तेरे दुःख में दुःखी तेरी सखियाँ, प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान यह तेरा पुत्र,

केवल तुझ में अनुराग रखनेवाला मैं—ये सब सुख के सामान रहते भी तेरा, इस प्रकार, हम सब को छोड़ जाना निश्चय ही बड़ा निष्ठुर काम है। मेरा धीरज अस्त हो गया; विलास का भी नाश हो गया; गाना बजाना भी हो चुका; वसन्तादिक उत्सव भी समाप्त हुए; आभूषणों का प्रयोजन भी जाता रहा; शय्या भी सूनी हो गई। तू मेरी गृहिणी थी; तू मेरी मन्त्री थी; तू मेरी एकान्त की सखी थी; तू ललित कलाओं में मेरी प्यारी शिष्या थी। ऐसी तुझको इस निष्करुण मृत्यु ने हरण कर के मेरा क्या नहीं हरण किया ?"

इस कविता का आनंन्द अनुवाद में नहीं मिल सकता; फिर गद्य में तो और भी नहीं। उसके लिए मूल श्लोक ही पढ़ने चाहिएँ।

[नवंबर १६०३.

३

कोरिया और कोरिया-नरेश

कोरिया एक प्रायद्वीप है। वह जापान के बहुत निकट है। कोरिया और जापान के बीच समुद्र का एक बहुत ही पतला भाग है। उसे कोरिया का मुहाना कहते हैं। जैसे फ्रांस और इंगलैन्ड के बीच "इंगलिश चैनल" है, कोरिया और जापान के बीच वैसे ही यह मुहाना है। इसी सन्निकटता के कारण कोरिया में रूस का सञ्चार जापान की आँखों का काँटा हो रहा है; वह उसे बहुत खटकता है। रूस का माहात्म्य यदि कोरिया में बढ़ा तो जापान की शक्ति कुछ अवश्य ही क्षीण हो जायगी। दोनों में छेड़ छाड़ बढ़ेगी; अतएव जापान की हानि सर्वथा सम्भव है। फिर एक ऐसी प्रबल शक्ति का पास आ जाना, जिसकी राज्य-बुभुक्षा कभी शान्त नहीं होती, कदापि मंगल-जनक नहीं हो सकता। कोरिया का दक्षिणी भाग जापान के निकट है और उत्तरी मञ्चूरिया से मिला हुआ है। मञ्चूरिया चीन का एक सूबा है; परन्तु उसे रूस ने दबा लिया है। अनेक आशायें और आश्वासन देकर भी और सन्धिपत्रों में छोड़ने की शपथ खा कर भी रूस उसे ग्रास ही किये हुए

है। मञ्चूरिया की सीमा कोरिया की सीमा से मिली होने के कारण, रूस भी कोरिया के बहुत निकट है। मञ्चूरिया का रूस के अधीन रहना जापान के लिए किसी प्रकार मंगल-जनक नहीं। परस्पर के इसी नैकट्य ने, और परस्पर की इसी प्रभुत्व-वृद्धि की कामना ने, रूस और जापान को उत्तेजित कर दिया है। युद्ध की मेघ-माला पूर्वी आकाश में, पीत और प्रशान्त सागर के ऊपर, बड़ा ही विकराल रूप धारण करके उमड़ आई है। इस लेख के प्रकाशित होने के पहले ही, रक्तपात रूपी प्रचण्ड धारासार के साथ उसकी भीम गर्जना शायद सुनाई पड़ने लगे।

कोरिया एक बहुत छोटा प्रायद्वीप है। उसका क्षेत्रफल कोई ८०,००० वर्ग मील है। वह पहाड़ी देश है। उसमें कितने ही छोटे बड़े पहाड़ हैं, नदियाँ भी बहुत सी हैं। वहाँ की पृथ्वी के गर्भ में अनन्त सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और कोयला भरा पड़ा है। एक बंगाली इञ्जिनियर वहाँ गये थे। उन्होंने अमेरिका में जाकर एक व्याख्यान दिया है। उसमें उन्होंने कहा है कि इस भूमण्डल में और कोई देश ऐसा नहीं जहाँ खनिज द्रव्यों का इतना आधिक्य हो। इसी सम्पत्ति को लूटने की गुप्त इच्छा से रूस और जापान दोनों के मुँह से लार टपक रही है; दोनों लालायित हो रहे हैं।

कोरिया में सब आठ सूबे हैं। उसकी राजधानी सियूल नामक नगर है। च्यमलफू बन्दर से सियूल तक रेल जारी है।

च्यमलफ़ू से सियूल कुल २४ मील है। यह रेल जापानियों के प्रबन्ध से बनी है; वही उसके कर्ताधर्ता हैं। कोरिया में कोरिया ही की भाषा बोली जाती है; परन्तु उस पर वहाँवालों की प्रीति कम है। पढ़े लिखे आदमी बहुधा चीनी भाषा बोलते हैं। राजकार्य भी उसी भाषा में होता है। अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी उसी भाषा में बनते हैं। राज्य-प्रणाली सब चीन से नक़ल की गई है। चीन की तरह कोरिया में भी "मन्दारिन" हैं। परीक्षायें भी वैसी ही होती हैं; और, कोई भी कोरियावासी उनमें शामिल हो सकता है। पास हो जाने पर, और बातों का कुछ भी ख़याल न करके, उम्मेदवार को, उसकी योग्यता के अनुसार जगह मिलती है। कोरियावाले पहले बौद्ध थे; अब भी कहीं कहीं इस धर्म्म का प्रचार वहाँ है, परन्तु चीन के "कनफ्यूशश" नामक धर्म्म की वहाँ विशेष प्रबलता है। कोरिया-नरेश इसी धर्म्म के अनुयायी हैं। कोरिया में स्त्रियों का बहुत कम आदर होता है; परन्तु स्वतंत्रता उनको खूब है। बड़े बड़े घरों की स्त्रियों को छोड़कर और कहीं वे परदे में नहीं रक्खी जातीं।

पुराने ज़माने में जापान ने कोरिया को कई बार हराया है। १७६० ईसवी तक कोरिया-नरेश जापान की रक्षा में समझे जाते रहे हैं। परन्तु उसके बाद कोरिया ने चीन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। कोरिया को यद्यपि सब तरह की स्वतंत्रता थी, परन्तु चीन-राज को उसे अपना राजेश्वर समझना पड़ता

था, और वार्षिक कर भी देना पड़ता था। १८७५ ईसवी में जापान ने दबाव डाल कर कोरिया के साथ एक सन्धि की। उसके अनुसार जापान को कई अधिकार मिले। उसका वहाँ प्रवेश हो गया, और धीरे धीरे महत्त्व बढ़ा। जापान का एक अधिकारी "रेसिडेंट" की तरह, वहाँ रहने लगा। जापान के जहाज़ कोरिया के बन्दरों में आने जाने लगे, जापानी व्यापारी भी वहाँ अधिकता से व्यापार करने लगे।

कोरियावाले अपने नरेश को देवता समझते हैं, देवता ही के सदृश वे उसको पूज्य मानते हैं। परन्तु राजा का वह नाम, जो उसे चीन के राजराजेश्वर से, सिंहासन पर बैठने के वक्त, मिलता है, मुँह से निकालना पाप है। राजा के शरीर को लोहे के शस्त्र से स्पर्श करना सबसे भारी अपराध है, उसका प्रतिशोध केवल प्राण-दण्ड है। लोहे का स्पर्श होना बहुत ही बुरा समझा जाता है। १८०० ईसवी में टेंग-सांग-ताप-बोंग नाम का राजा एक फोड़े से पीड़ित होकर मर गया, परन्तु उसको चीरने के लिए लोहे के शस्त्र का स्पर्श उसने स्वीकार नहीं किया। सियूल में घुड़सवार को यदि राजप्रासाद के पास से निकलना पड़े तो उसे घोड़े से उतरना पड़ता है। यदि कोई राजसभा में पैर रक्खे, और राजदर्शन करना चाहे, तो सिंहासन के सामने, हाथ-पैर लम्बे करके, पृथ्वी पर गिर कर, उसे दण्ड-प्रणाम करना पड़ता है।

कोरिया के वर्तमान नरेश का पवित्र नाम "ह्वनी ई" है।

१८६४ में आप राजा हुए, और १८९७ में, आपने राजराजेश्वर की पदवी धारण की। आपका वंश कोरिया में १३९२ ईसवी से चला आता है। आप अपने वंश के तेरहवें नृपराज हैं। आपके अधीन एक मन्त्रिमण्डल है। वही क़ायदे-कानून बनाता है। वही सब विषयों का विधि-निषेध करता है। उसके मन्तव्यों का विचार राजेश्वर करते हैं और विचार करके उनको मञ्जूर करते हैं। १८९४ तक ह्वनी ई का राजत्व, चीन की रक्षा में, अखण्डित बना रहा। परन्तु इस वर्ष जापान ने कोरिया के ऊपर चीन का स्वत्व स्वीकार न किया। चीन और जापान के युद्ध का यह भी एक कारण हुआ। इस युद्ध में जापान विजयी हुआ। चीन के साथ उसकी सन्धि हुई। सन्धि में चीन ने कोरिया पर अपने प्रभुत्व का दावा छोड़ा। तब से कोरिया ने जापान की रक्षा में रहना क़बूल किया। जापान की सहायता से, कोरिया में, इन सात आठ वर्षों में बहुत कुछ सुधार हुआ है।

चीन से सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराके जापान जब निश्चिन्त हुआ, तब उसने कोरिया-नरेश से कहा कि सर्वसाधारण के सामने और पितरों के पवित्र मन्दिर में, वे चीन की प्रभुता परित्याग करने की शपथ करें। कोरिया-नरेश बड़े संकट में पड़े। परन्तु कर क्या सकते थे? जापान का बल, जापान का रण-कौशल वे देख चुके थे। इसलिए उसका आदेश उन्हें मानना ही पड़ा। १८९५ के जनवरी की ८ तारीख़ इस शपथ

के लिए नियत हुई। नरराज के महलों से लेकर पितृ-मन्दिर तक कोरिया के अश्वारोही सड़क पर दोनों ओर खड़े हुए। किस तरह? अपना और घोड़े का मुँह दीवारों की तरफ़; अपनी पीठ और घोड़े की दुम नरेश की तरफ़ सड़क की ओर! कुछ देर में राजप्रासाद से अनेक पताकाधारी निकले और मन्दिर को चले गये। उनके पीछे कोरिया-नरेश का सेवक-समूह, पीली पोशाक और पीली टोपी पहने बाहर आया। अनन्तर नरेश का रेशमी लाल रङ्गवाला छाता देख पड़ा। उसके बाद चार आदमियों के कन्धे पर रक्खी हुई एक कुरसी में कोरिया-नरेश पधारे। आप, सदा अपनी प्रसिद्ध राजसी कुरसी पर, १६ आदमियों के कन्धों के ऊपर, निकला करते हैं; परन्तु इस अवसर पर आप उस ठाठ से नहीं निकले। आपका चेहरा ज़र्द था; मुँह से नाउम्मेदी टपक रही थी। उनके पीछे युवराज, फिर मन्दारिन, फिर सेना विभाग के अधिकारी, और अन्त में दूसरे लोग अपने अपने घोड़ों और ख़च्चरों पर बाहर निकले। इस प्रकार नरेश ने देव-मन्दिर में जाकर चीन का सम्बन्ध त्याग करने की, जापान की प्रभुता स्वीकार करने की, और जापान की आज्ञा को सिर पर रख कर तदनुकूल कोरिया में सब प्रकार के संशोधन करने की क़सम खाई। इस प्रकार चीन-जापान के युद्ध रूपी नाटक का यह आख़िरी खेल ख़तम हुआ।

श्रीमती बिशप नाम की एक अँगरेज़ विदुषी ने "कोरिया और उसके पड़ोसी" (Korea and its Neighbours)

नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने कोरिया का अच्छा हाल लिखा है। वे कहती हैं कि कोरिया की महारानी की उम्र इस समय कोई ४२ वर्ष की होगी। वे बहुत दुबली पतली हैं, परन्तु देखने में बुरी नहीं मालूम होतीं। उनके केश सिवार के समान हैं; कुछ काले हैं, कुछ भूरे। उनका रंग पीलापन लिये हुए है, मुँह पर वे मुक्ता-चूर्ण मलती हैं, जिससे उनके मुख पर एक प्रकार का लावण्य आ जाता है। उनको देखने से मालूम होता है कि वे समझदार हैं। जब वे बात-चीत करती हैं, और वह बात चीत उनको अच्छी लगती है, तब उनके चेहरे पर ऐसा रंग आ जाता है, जिसे सुन्दरता में दाख़िल कर सकते हैं।

कोरिया-नरेश को जापान ने सभ्यता सिखलाना शुरू कर दिया है। दो वर्ष हुए, आपने कोरिया में खनिज विद्या का एक कालेज बनवाने का विचार किया था। इसके प्रबन्धकर्ता कोरियावाले ही होनेवाले थे, परन्तु अध्यापक और इञ्जिनियर फ्रांस से बुलाने का इरादा था। नहीं मालूम यह कालेज बन गया या नहीं।

महारानी विक्टोरिया को एक बार कोरिया-राज ने एक सम्मान-सूचक ख़िताब, पदक समेत, भेजा। महारानी ने भी कोरिया के राजेश्वर को सम्मान देना चाहा। इसलिए उन्होंने जी० सी० आई० ई० नामक इस देश से सम्बन्ध रखनेवाली और विशेष आदर-सूचक पदवी उनको प्रदान की। इस पदवी-दान के समय "स्टैन्डर्ड" नामक समाचार-पत्र का

प्रतिनिधि कोरिया में उपस्थित था। अँगरेजी "कानसल" पदवी सम्बन्धी पदक लेकर राज-प्रासाद में पहुँचा। उसने पहले राजेश्वर को बा-क़ायदा प्रणाम किया। फिर उसने अपने साथियों में से एक एक की पहचान कराई। राजेश्वर ने प्रत्येक की ओर सिर झुका कर उनके नामों को दुहराया। तदन्तर वार्तालाप आरम्भ हुआ। जहाँ पर यह उत्सव था, वहीं पास के एक कमरे में, कोरिया की महारानी और उनकी सहेलियाँ भी थीं। जो परदा पड़ा था, वह इतना पतला था कि उसके भीतर से उनके वस्त्राभूषण बखूबी देख पड़ते थे। इस उत्सव के लिए जो तैयारियाँ की गई थीं, उन्हें देख कर कोरिया-नरेश ने प्रसन्नता प्रकट की। जब आपको पदवी-दान हुआ और आप तत्सम्बन्धी पदक आदि से सज्जित और सुशोभित किये गये, तब आपकी प्रसन्नता और तुष्टि का वारापार न रहा।

इस समय यही कोरिया-नरेश दो नृपति-सिंहों के पेच में पड़े हुए हैं। यद्यपि उनसे, इन दोनों में से कोई भी शत्रु भाव नहीं रखता, तथापि यह रणाग्नि, जो इस समय सुलग रही है, उन्हीं के देश को ग्रास करने के लिए है। इस सिंह-युग्म की चपेट में उनका भी कुछ अनिष्ट हो जाय तो आश्चर्य नहीं; क्योंकि उनकी प्रजा और सेना ने, सुनते हैं, बलवा शुरू कर दिया है और विदेशियों की मार काट के लिए हथियार उठाया है।

[मार्च १९०४.

४
कांग्रेस के कर्ता

कांग्रेस क्या चीज़ है, इसके बतलाने की ज़रूरत नहीं। कांग्रेस का अर्थ प्रायः सभी जानते हैं, चाहे वे अँगरेज़ी जानते हों, चाहे न जानते हों। हाँ, अख़बारों से उनका परिचय होना चाहिए। १९०४ की कांग्रेस, इसी महीने, अर्थात् दिसम्बर में, होनेवाली है। उसके होने के पहले ही हम यह लेख लिख रहे हैं। इसी से हम तदनुकूल शब्द प्रयोग करते हैं। इस बार उसका लीला-स्थल बम्बई है। वहाँ पालव बन्दर के मैदान में, एक सुदक्ष पारसी इंजिनीयर उसके लिए एक भव्य भवन बना रहे हैं। कुल सत्रह विषयों पर वाद-विवाद होगा। इन विषयों में से एक विषय यह है कि पार्लियामेंट में हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि लिये जायँ। दूसरा यह है कि कांग्रेस की तरफ़ से हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि इंगलैण्ड भेजे जायँ और वहाँ वे इस देश की आवश्यकताओं को, वक्तृतायें देकर, प्रकट करें। और भी कई विषय ऐसे हैं जिनसे इस देश का बहुत कुछ लाभ हो सकता है। परन्तु कांग्रेस का काम प्रार्थनायें करना है। उनको मंजूर करना या न करना गवर्नमेंट का काम है।

इस बार की कांग्रेस के सभापति आसाम के भूत-पूर्व चीफ कमिश्नर सर हेनरी काटन होंगे। आप इस पद को ग्रहण

करने के लिए इँगलैण्ड से आ रहे हैं। उनके साथ सर विलि-यम वेडरबर्न भी आवेंगे। काटन साहब के कारण इस कांग्रेस में विशेष सजीवता आ जाने की सम्भावना है। आप का पूरा नाम है एच० जे० एस० काटन, के० सी० एस० आई०।

काटन साहब की कई पुश्तें इस देश में बीत चुकी हैं। जोजेफ काटन इनके परदादा थे; जान काटन इनके दादा थे; और जोजेफ जान काटन इनके पिता थे। ये लोग इस देश में आकर बहुत दिनों तक अच्छे अच्छे पदों पर रहे थे। इनके पिता मदरास हाते में १८३१ से १८६३ तक सिविलियन थे। इनका जन्म १८४५ ईस्वी में, कुंम्भकोण में, हुआ था। इनके एक भाई हैं। उनका नाम है जे० एस० काटन। वे भी इन्हीं की तरह हिन्दुस्तान से प्रीति रखते हैं। उन्होंने "इंगलिश सिटीज़न" नामक पुस्तक-माला में हिन्दुस्तान पर एक बहुत अच्छी किताब लिखी है। उसमें उन्होंने हिन्दुस्तानियों को अँगरेज़ों की बराबरी का बतलाया है। काटन साहब के भी दो लड़के इस समय इस देश में हैं। एक कलकत्ते में हाई कोर्ट के ऐडवोकेट हैं; दूसरे मदरास हाते में सिविलियन हैं।

काटन साहब ने आक्सफ़र्ड और लंडन में विद्याभ्यास किया। सिविल सरविस की परीक्षा पास करने पर, १८६७ में, वे मेदिनीपुर में असिस्टेंट कलेक्टर नियत हुए। धीरे धीरे उनकी तरक्की होती गई। अनेक ऊँचे ऊँचे पदों पर काम करके १८९२ में वे आसाम के चीफ़ कमिश्नर हुए। १८९६ में

वे सी० एस० आई० हुए और १६०२ में के० सी० एस० आई०। चीफ़-कमिश्नरी से उन्होंने पेन्शन ले ली। काटन साहब की इस देश और इस देश के रहनेवालों पर बड़ी प्रीति है। आपने "न्यू इंडिया" नाम की एक किताब लिखी है। उसमें इस देश की वर्तमान दशा का बहुत ही अच्छा वर्णन है। उसे हिन्दुस्तानी मात्र को पढ़ना चाहिए। आसाम में चाय के अनेक बाग़ हैं। उनमें जो कुली काम करते हैं, उन पर साहब लोग अक्सर बड़ी सख्ती करते हैं। यह बात काटन साहब से, चीफ़ कमिश्नरी की हालत में, देखी नहीं गई। उन्होंने कुलियों का खूब पक्ष लिया। इस पर उनसे उनके देशवासी सख्त नाराज़ हुए। पर उन्होंने इसकी ज़रा भी परवा नहीं की। खुले मैदान, कौंसिल में, उन्होंने कुलियों की दशा का, उन पर होनेवाले अत्याचारों का और अपने सहानुभूतिसूचक विचारों का बड़े आवेश में आकर वर्णन किया। काटन साहब अच्छे समाज-संशोधक हैं और कांग्रेस के पक्षपाती हैं। जब तक वे इस देश में रहे, छोटे से लेकर बड़े तक, सबसे वे मिलते रहे। कभी किसी से मिलने से उन्होंने इनकार नहीं किया। एक दफे अपने मुँह से उन्होंने कहा—

"The excuse of फ़ुरसत नहीं is abhorent to me"—अर्थात्—"फ़ुरसत न होने का बहाना बतलाने से मुझे नफरत है।" ऐसे महामना और उदारचेता काटन साहब इस कांग्रेस के सभापति वरण किये गये हैं।

१९०४ की कांग्रेस बम्बई में है। इसलिए उस प्रांत के दो एक प्रसिद्ध कांग्रेसवालों का परिचय भी, लगे हाथ, हम करा देना चाहते हैं। उनमें से प्रथम स्थान दादाभाई नौरोजी का है। वे इस कांग्रेस में न आ सकेंगे। पर वे उसके पूरे पक्षपाती हैं।

दादाभाई का जन्म, बम्बई में, १८२५ ईसवी में हुआ था। उनके पिता एक पारसी पुरोहित थे। वहीं, बम्बई में, उनकी अँगरेजी शिक्षा समाप्त हुई। अनंतर वे एल्फिस्टन कालेज में अध्यापक नियत हुए। अपने काम से उन्होंने कालेज के अधिकारियों को खूब खुश किया। कुछ समय तक वे विद्या-संबंधिनी एक गुजराती सभा के सभापति रहे। फिर उन्होंने रास्त-गुफ्तार नामक एक गुजराती अखबार निकाला। दो वर्ष तक वे उसके संपादक रहे; फिर छोड़ दिया। यह अखबार अब तक जारी है। १८५५ ईसवी में वे इंग्लैंड गये और वहाँ व्यापार करने लगे। तब से वे वहीं रहते हैं। यहाँ भी कभी कभी आ जाते हैं। १८७४ में, कुछ काल तक वे बरौदा में गायकवाड़ के दीवान थे। वे "हौस आफ कामन्स" अर्थात् पार्लियामेंट के एक बार सभासद रह चुके हैं। अब फिर उसमें प्रवेश पाने का वे यत्न कर रहे हैं। वे पहले हिंदुस्तानी हैं जिनको पार्लियामेंट में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक बार, बंबई में, गवर्नर की कौंसिल में भी वे बैठ चुके हैं। यद्यपि वे बहुत बूढ़े हैं, तथापि देश-हित करने की प्रबल प्रेरणा से पुस्तकें लिख कर, बड़े बड़े अधिकारी अँगरेज़ों से मिल कर, और समय समय

पर व्याख्यान देकर, जो काम वे कर रहे हैं, वह जवानों से भी नहीं हो सकता। इस वर्ष (१६०४ में) अम्स्टरडाम में जो सभा हुई थी, उसमें वे भी गये थे। इनके ऋषि-तुल्य रूप को देखकर उनके खड़े होते ही सारी सभा खड़ी हो गई थी। इस देश की दुर्दशा का जो चित्र उन्होंने वहाँ खींचा, उससे सभासदों का हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने "पावर्टी एँड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया" नाम की एक बहुत ही अच्छी पुस्तक लिखी है।

सर फ़ीरोज़ शाह मेहता, एम० ए०, एल-एल० बी०, के० सी० आई० ई०, इस बार कांग्रेस की स्वागत-कारिणी कमिटी के सभापति हैं। आप ही पहले दिन, सभासदों का स्वागत करेंगे और, अपनी पहली वक्तृता में, कांग्रेस सम्बन्धिनी भूमिका का भाष्य सुनावेंगे। आप पारसी हैं। पर इस देश में रहनेवाली सब जातियों की प्रतिष्ठा के वे पात्र हैं। बम्बई हाई कोर्ट के वे प्रधान बैरिस्टरों में से हैं। एक बार वाइसराय के कौंसिल के सभासद भी रह चुके हैं। आप बहुत बड़े वक्ता हैं; कांग्रेस के बहुत बड़े भक्त हैं; और देश-हित-कारक कामों के बहुत बड़े अभिभावक हैं।

अध्यापक गोपाल कृष्ण गोखले बी० ए०, सी० आई० ई० का नाम कौन न जानता होगा? स्वदेश-हितचिन्तकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। तिलक-विभ्राट् के समय वे इँगलैंड में थे। वहाँ उन्होंने कुछ अनुचित कह डाला था। इसलिए, यहाँ

आकर, उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर ली, जिससे गवर्नमेंट का क्षोभ उन पर से जाता रहा। वे पूना के स्वदेशी फ़रगुसन कालेज में प्रोफेसर हैं। बहुत कम वेतन लेकर वे वहाँ विद्या-दान देते हैं। देश-सेवा ही में उन्होंने अपना समय व्यतीत करने का प्रण कर लिया है। अपने प्रान्त से वे वाइसराय के कौंसल के मेम्बर हैं। वे अपूर्व वक्ता हैं। "यूनीवरसिटी बिल" पास होने के समय उन्होंने कौंसल में जैसी आवेशपूर्ण वक्तृता दी थी, वैसी आज तक किसी हिन्दुस्तानी से नहीं बन पड़ी। उससे कौंसल का "हाल" कँप उठा था; बिल को उपस्थित करनेवालों का चेहरा सुर्ख़ हो गया था; और लार्ड कर्जन तक से उसका यथोचित उत्तर न बन पड़ा था। उनकी वह वक्तृता एक अजूबा चीज़ है। वह सादर पढ़ने लायक है और चिरकाल तक रख भी छोड़ने लायक है। उसके कुछ ही दिन बाद गवर्नमेंट ने उनको सी० आई० ई० कर दिया। बहुत अच्छा हुआ।

मिस्टर दिनशा एदलजी वाचा बम्बई के निवासी हैं। आप पारसी-वंशज हैं। कांग्रेस से आपका उसी तरह का सम्बन्ध है, जिस तरह का योगियों का ब्रह्मानन्द से होता है। शायद ही कोई कांग्रेस ऐसी हुई हो जिसमें आप उपस्थित न रहे हों। व्यापार-विषयक बातों में आपका तजरुबा बहुत बढ़ा चढ़ा है। आपके बोलने का ढंग ऐसा है कि सुननेवालों के नेत्र आपके चेहरे पर जाकर चिपक से जाते हैं। वक्तृता में, यथा समय, अङ्ग-विक्षेप करने की कला आपको खूब आती है।

सर विलियम वेडरबर्न बम्बई के गवर्नर के प्रधान सेक्रेटरी थे। इस देशवालों ने विलायत में जो एक समाज संगठित किया है, उससे आपका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आप भारत के इतने शुभचिन्तक हैं कि उसके मंगल के लिए राजनैतिक आन्दोलनों में आपने अपने घर के कोई दो लाख से अधिक रुपये खर्च कर डाले हैं!

पार्लियामेंट सभा के सभ्य स्मिथ साहब भी इस बार कांग्रेस में आते हैं। आप भी भारत के बड़े शुभचिन्तक हैं। इस देश में मद्यपान-निवारण करने के लिए आपने विलायत में एक सभा बनाई है। आप उसके सभापति हैं।

इस कांग्रेस के साथ जो प्रदर्शिनी होती है उसके, इस बार, दो भाग हैं—एक पुरुषों का, दूसरा स्त्रियों का। पुरुषोंवाले को बम्बई के गवर्नर लार्ड लेमिंगटन खोलेंगे और स्त्रियोंवाले को उनकी लेडी साहबा खोलेंगी। स्त्रियों की प्रदर्शिनी एक नई चीज़ होगी। अनेक पारसी और महाराष्ट्र स्त्रियाँ इस काम में लगी हुई हैं। वही प्रदर्शिनी के लिए चन्दा इकट्ठा कर रही हैं; वही चीज़ें इकट्ठा कर रही हैं; और वही उनको हिफ़ाज़त से रखने और दिखलाने का प्रबन्ध कर रही हैं। ईश्वर करे, उनको इस काम में खूब सफलता हो।

अगली कांग्रेस इस प्रान्त में होनेवाली है।

[जनवरी १९०५.

५

क्रोध

याद रखिए, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है। क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है। क्रोध एक प्रकार की प्रचंड आँधी है। जब क्रोध रूपी आँधी आती है, तब दूसरे की बात नहीं सुनाई पड़ती। उस समय कोई चाहे कुछ भी कहे, सब व्यर्थ जाता है। आँधी में भी किसी की बात नहीं सुन पड़ती। इसलिए ऐसी आँधी के समय बाहर से सहायता मिलना असंभव है। यदि कुछ सहायता मिल सकती है तो भीतर से ही मिल सकती है। अतएव मनुष्य को उचित है कि वह पहले ही से विवेक, विचार और चिंतन को अपने हृदय में इकट्ठा कर रक्खे जिसमें क्रोध-रूपी आँधी के समय वह उनसे भीतर से सहायता ले सके। जब कोई नगर किसी बलवान् शत्रु से घेर लिया जाता है, तब उस नगर में बाहर से कोई वस्तु नहीं आ सकती। जो कुछ भीतर होता है, वही काम आता है। क्रोधांध होने पर भी बाहर की कोई वस्तु काम नहीं आती। इसी लिए हृदय के भीतर सुविचार और चिंतन की आवश्यकता होती है।

क्रोध इतना बुरा विकार है कि वह सुविचार को जड़ से नाश करने की चेष्टा करता है। वह विष है; क्योंकि उसके नशे में भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वह मूर्तिमान् मत्सर है;

उसके कारण क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य का भी लोग मत्सर करने लगते हैं। क्रोधी मनुष्य प्रत्येक बात पर, प्रत्येक दुर्घटना पर और प्रत्येक मनुष्य पर, बिना कारण अथवा बहुत ही थोड़े कारण से, बिगड़ उठता है। यदि क्रोध का कारण बहुत बड़ा हुआ तो वह उग्र रूप धारण करता है। और यदि उसका कारण छोटा हुआ तो चिड़चिड़ाहट ही तक उसकी नौबत पहुँचती है। अतएव, या तो वह प्रचंड होता है या उपहास-जनक। दोनों प्रकार से वह बुरा होता है। क्रोध मनुष्य के शरीर को भयानक कर देता है; शब्द को कुत्सित कर देता है; आँखों को विकराल कर देता है; चेहरे को आग के समान लाल कर देता है; बात-चीत को बहुत उग्र कर देता है। क्रोध न तो मनुष्यता ही का चिह्न है और न स्वभाव के सरल किंवा आत्मा के शुद्ध होने ही का चिह्न है। वह भीरुता अथवा मन की क्षुद्रता का चिह्न है। क्योंकि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक क्रोध आता है; नीरोग मनुष्यों की अपेक्षा रोगियों को; युवा पुरुषों की अपेक्षा बुड्ढों को; और भाग्यवानों की अपेक्षा अभागियों को। जो मनुष्य क्षुद्र हैं, उन्हीं को क्रोध शोभा देता है; सज्ञान, उदार और सत्पुरुषों को नहीं।

जिसे क्रोध आता है, वह उसे ही दुःखदायक नहीं होता; क्रोध के समय जो लोग वहाँ होते हैं, उनको भी वह दुःखदायक हो जाता है। चार अदमियों के सामने किसी छोटे से अपराध पर नौकर-चाकरों को बुरा-भला कहना और उन पर क्रोध

करना किसी को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार क्रोध करना और उचित-अनुचित बोलना असभ्यता का लक्षण है। क्रोध ही के कारण स्त्री-पुरुष में बिगाड़ हो जाता है। क्रोध ही के कारण मित्रों का साथ, सभा-समाज का जाना, और जान-पहचानवालों के साथ उठना-बैठना असह्य हो जाता है। क्रोध ही के कारण सीधी-सादी हँसी की बातों से भयानक और शोककारक घटनायें पैदा हो जाती हैं। क्रोध ही के कारण मित्र द्रोह करने लगते हैं। क्रोध ही के कारण मनुष्य अपने आप को भूल जाता है; उसकी विचार-शक्ति जाती रहती है; और बात-चीत करने में वह कुछ का कुछ कहने लगता है। क्रोध ही के कारण मनुष्य, किसी वस्तु का चुपचाप ज्ञान प्राप्त न करके, व्यर्थ झगड़ा करने लगता है। जिनको ईश्वर ने प्रभुता दी है, उनको क्रोध घमंडी बना देता है। क्रोध सारासार विचार पर परदा डाल देता है; उपदेश और शिक्षा को क्लेश-दायक कर देता है; श्रीमान् को द्वेष का पात्र कर देता है। जो लोग भाग्यवान् नहीं, वे यदि क्रोधी हुए तो उन पर कोई दया नहीं करता। क्रोध अनेक बुरे विकारों की खिचड़ी है। उसमें दुःख भी है, द्वेष भी है, भय भी है, तिरस्कार भी है, घमण्ड भी है, अविवेकता भी है, उतावली भी है, निर्बोधता भी है। क्रोध के कारण दूसरों को चाहे जितना क्लेश मिले, तथापि जिस मनुष्य को क्रोध आता है, उसी को सब से अधिक क्लेश मिलता है; और उसी की सबसे अधिक हानि भी होती है।

क्रोध से बचने अथवा क्रोध को दूर करने के लिए क्रोध करना उचित नहीं। अपने ऊपर भी क्रोध करने से क्रोध बढ़ता है, घटता नहीं।

क्रोध से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन में दृढ़ता से पहले यह प्रण करे कि वह उस दिन क्रोध न करेगा, फिर चाहे उसकी कितनी ही हानि क्यों न हो। इस प्रकार प्रण करके उसे सजग रहना चाहिए। एक दिन बहुत नहीं होता। यदि वह एक दिन भी क्रोध को जीत लेगा तो दूसरे दिन भी वैसा ही प्रण करने के लिए उसमें साहस आ जायगा। तब उसे दो दिन क्रोध न करने के लिए प्रण करना उचित है। इस भाँति बढ़ाते बढ़ाते क्रोध न करने का स्वभाव पड़ जायगा। क्रोध मनुष्य का पूरा शत्रु है। उसके कारण मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। जिसने क्रोध को जीत लिया, उसके लिए कठिन से कठिन काम करना सहल है।

क्रोध को बिलकुल ही छोड़ देना भी अच्छा नहीं। किसी को बुरा काम करते देख उसे पहले मीठे शब्दों से उपदेश देना चाहिए। यदि ऐसे उपदेश से वह उस काम को न छोड़े तो उस पर क्रोध भी करना उचित है। जिस क्रोध से अपने कुटुम्बियों, अपने इष्ट-मित्रों अथवा दूसरों का आचरण सुधरे; ईश्वर में पूज्य-बुद्धि उत्पन्न हो; दया, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो; वह क्रोध बुरा नहीं।

[जून १९०५.

६

स्वाधीनता

इंग्लैंड में जान स्टुअर्ट मिल नामक एक तत्त्ववेत्ता हो गया है। उसे मरे अभी कुल इकतीस वर्ष हुए। उसने कई अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से एक का नाम 'लिबर्टी' (Liberty) है।

मिल का जन्म २० मई १८०६ को लन्दन में हुआ। उसका पिता जेम्स मिल भी अपने समय में एक प्रसिद्ध तत्ववेत्ता था। जिस समय जान स्टुअर्ट मिल की उम्र कोई तेरह वर्ष की थी, उस समय उसके बाप को ईस्ट इंडिया कम्पनी के दफ्तर में एक जगह मिली। वहाँ उसे इस देश की अनेक बातें मालूम हुईं और सैंकड़ों तरह के कागज़-पत्र और ग्रंथ देखने को मिले। उनके आधार पर उसने भारतवर्ष का एक बहुत अच्छा इतिहास लिखा। यह इतिहास देखने के लायक है।

मिल के पिता ने मिल को किसी स्कूल या कालेज में पढ़ने नहीं भेजा। उसने ख़ुद उसे पढ़ाना शुरू किया। जब तक उसे पढ़ाने की ज़रूरत समझी, तब तक वह उसे बराबर पढ़ाता रहा। तीन वर्ष की उम्र में मिल ने ग्रीक भाषा की वर्णमाला

सीखी। आठ वर्ष की उम्र में उसने उस भाषा का थोड़ा सा अभ्यास भी कर लिया। बहुत से गद्य ग्रंथ उसने पढ़ डाले। आठवें वर्ष मिल ने लैटिन सीखना शुरू किया। कुछ दिन बाद अंक-गणित, बीज-गणित और रेखा-गणित भी वह सीखने लगा। बारह वर्ष की उम्र में मिल को ग्रीक और लैटिन का अच्छा ज्ञान हो गया। वह प्लेटो और अरिस्टाटल के गहन ग्रंथ अच्छी तरह समझने लगा। दिल बहलाने के लिए वह इतिहास और काव्य भी पढ़ता था और कभी कभी कविता भी लिखता था। पोप का किया हुआ इलियड का भाषांतर उसे बहुत पसंद आया। उसे देखकर वह छोटी छोटी कवितायें लिखने लगा। इससे मिल को शब्दों का यथा-स्थान रखना आ गया। पद्य-रचना के विषय में मिल के पिता ने पुत्र की प्रतिकूलता नहीं की। यह काम उसकी अनुमति से मिल ने किया।

मिल को अपनी हमजोली के लड़कों के साथ खेलने-कूदने को कभी नहीं मिला। उसने अपना आत्म-चरित अपने हाथ से लिखा है। उसमें एक जगह वह लिखता है कि उसने एक दिन भी 'क्रिकेट' नहीं खेला। लड़कपन में यद्यपि वह बहुत मोटा-ताज़ा और पलवान नहीं था, तथापि वह इतना दुबला और अशक्त भी नहीं था कि उसके लिखने-पढ़ने में बाधा आती। जब वह तेरह वर्ष का हुआ, तब उसके बाप ने उसे विशेष गंभीर विषयों की शिक्षा देना आरंभ किया। ग्रीक, लैटिन और अँगरेज़ी भाषा में उसने तत्व-विद्या और तर्क-शास्त्र की अनेक

पुस्तकें पढ़ डालीं। उसका बाप रोज़ बाहर घूमने जाया करता था। अपने साथ वह मिल को भी रखता था। राह में वह उससे प्रश्न करता जाता था। जो कुछ वह पढ़ता था, उसमें वह उसकी रोज परीक्षा लेता था। जो चीज़ बाप पढ़ाता था, उसका उपयोग भी वह पुत्र को बतला देता था। उसका यह मत था कि जिस चीज़ का उपयोग मालूम नहीं, उसका पढ़ना व्यर्थ है। तर्क-शास्त्र अर्थात् न्याय, और तत्व-विद्या अर्थात् दर्शन-शास्त्र में मिल थोड़े ही दिनों में प्रवीण हो गया। किसी ग्रंथ-कार के मत या प्रमाण को कबूल करने के पहले उसकी जाँच करना मिल को बहुत अच्छी तरह आ गया। दूसरों की प्रमाण-शृंखला में वह बड़ी योग्यता से दोष ढूँढ निकालने लगा। यह बात सिर्फ अच्छे नैयायिक और दार्शनिक पंडितों ही में पाई जाती है; क्योंकि प्रतिपक्षी की इमारत को अपनी प्रबल दलीलों से ढहाकर उस पर अपनी नई ईमारत खड़ा करना सब का काम नहीं। खंडन-मंडन की यह विलक्षण रीति मिल को लड़कपन ही में सिद्ध हो गई। इसका फल भी बहुत अच्छा हुआ। यदि थोड़ी ही उम्र में उसकी तर्क-शक्ति इतनी प्रबल न हो जाती तो वह वयस्क होने पर इतने अच्छे ग्रंथ न लिख सकता। मिल के घर उसके पिता से मिलने अनेक विद्वान् आया करते थे। उनमें परस्पर अनेक विषयों पर वाद-विवाद हुआ करता था। उनके कोटि-क्रम को मिल ध्यानपूर्वक सुनता था। इससे भी उसको बहुत फायदा हुआ। उसकी बुद्धि बहुत जल्द

विकसित हो उठी और बड़े बड़े गहन विषयों को वह समझ लेने लगा।

बाप की सिफारिश से मिल ने प्लेटो के ग्रन्थ विचारपूर्वक पढ़े। इतिहास, राजनीति और अर्थ-शास्त्र का भी उसने अध्ययन किया। चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में उसका गृह-शिक्षण समाप्त हुआ। तब वह देश-पर्यटन के लिए निकला। फ्रांस की राजधानी पेरिस में वह कई महीने रहा। इस यात्रा में उसे बहुत कुछ तजरुबा हुआ। कुछ दिनों बाद, घूम घाम कर, वह लन्दन लौट आया। तब से उसकी यथा-नियम शिक्षा की समाप्ति हुई। जितनी थोड़ी उम्र में मिल ने तर्क और अर्थ-शास्त्र आदि कठिन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, उतनी थोड़ी उम्र में और लोगों के लिए इस बात का होना प्रायः असम्भव समझा जाता है।

सत्रह वर्ष की उम्र में मिल ने इंडिया हाउस नामक दफ्तर में प्रवेश किया। वहाँ उसकी क्रम क्रम से उन्नति होती गई। अन्त में वह एग्ज़ामिनर के दफ़्तर का सबसे बड़ा अधिकारी हो गया। पर १८५८ ईसवी में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी टूटी, तब वह दफ़्तर भी टूट गया। इसलिए उसे नौकरी से अलग होना पड़ा। कोई पचीस वर्ष तक उसने नौकरी की। नौकरी ही की हालत में उसने अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे। उसका मत था कि जो लोग केवल पुस्तक-रचना करने और समाचार-पत्रों में छपने के लिए लेख भेजने ही पर अपनी जीविका चलाते हैं,

उनके लेख अच्छे नहीं होते, क्योंकि वे जल्दी में लिख जाते हैं। पर जो लोग जीविका का कोई और द्वार निकाल कर पुस्तक-रचना करते हैं, वे सावकाश और विचार-पूर्वक लिखते हैं। इससे उनकी विचार-परम्परा अधिक मनोग्राह्य होती है और उनके ग्रन्थों का अधिक आदर भी होता है।

१८६५ से १८६८ तक मिल पारलियामेंट का मेम्बर भी रहा। वह यद्यपि अच्छा वक्ता न था, तथापि जिस विषय पर वह बोलता था, सप्रमाण बोलता था। उसकी दलीलें बहुत मज़बूत होती थीं। ग्लैडस्टन साहब ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। एक ही बार मिल का प्रवेश पारलियामेंट में हुआ। कई कारणों से लोगों ने उसे दुबारा नहीं चुना। उन कारणों में सबसे प्रबल कारण यह था कि पारलियामेंट में हिन्दुस्तान के हितचिन्तक ब्राडला साहब के प्रवेश-सम्बन्धी चुनाव में मिल ने उनकी मदद की थी। ऐसे घोर नास्तिक की मदद! यह बात लोगों को बरदाश्त न हुई। इसी से उन्होंने दुबारा मिल को पारलियामेंट में नहीं भेजा। यह सुनकर कई जगह से मिल को निमन्त्रण आया कि तुम हमारी तरफ से पारलियामेंट की उम्मेदवारी करो। परन्तु ऐसे झगड़े का काम मिल को पसन्द न आया। इससे उसने उम्मेदवार होने से इनकार कर दिया। तब से उसने एकान्त-वास करने और पढ़ने ही लिखने में अपनी बाक़ी उम्र बिताने का निश्चय किया। वह अविगनान नामक गाँव में जाकर रहने लगा। १८७३ में वहाँ उसकी मृत्यु

हुई। उसका घर पुस्तकों और अख़बारों से भरा रहता था। साल में सिर्फ कुछ दिनों के लिए वह अविगनान से लन्दन आता था।

जिस समय मिल की उम्र पचीस वर्ष की थी, उस समय टेलर नामक एक आदमी की स्त्री से उसकी जान-पहचान हुई। धीरे धीरे दोनों में परस्पर स्नेह हो गया। उसकी क्रम-क्रम से वृद्धि होती गई। इस कारण लोग मिल को भला-बुरा भी कहने लगे। उसके पिता को भी यह बात पसन्द न आई। परन्तु प्रेम-प्रवाह में क्या शिक्षा, दीक्षा और उपदेश कहीं ठहर सकते हैं? बीस वर्ष तक यह स्नेह-सम्बन्ध अथवा मित्र-भाव अखण्डित रहा। इतने में टेलर साहब की मृत्यु हो गई। यह अवसर अच्छा हाथ आया देख ये दोनों प्रेमी विवाह-बन्धन में बँध गये। परन्तु सिर्फ़ सात वर्ष तक मिल साहब को इस स्त्री के समागम का सुख मिला। इसके बाद उसका शरीर छूट गया। इस वियोग का मिल को बेहद रंज हुआ। अविगनान ही में मिल ने उसे दफ़न किया और जो बातें उसे अधिक पसन्द थीं, उन्हीं के करने में उसने अपनी बची हुई उम्र का बहुत सा भाग बिताया। मिल के साथ विवाह होने के पहले ही इस स्त्री के एक कन्या थी। माँ के मरने पर उसने मिल की बहुत सेवा-शुश्रूषा की। उसने मिल को गृह-सम्बन्धी कोई तकलीफ़ नहीं होने दी।

मिल ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वह अकसर प्रसिद्ध प्रसिद्ध

अख़बारों और मासिक-पुस्तकों में लेख भी दिया करता था। छोटी छोटी पुस्तकें तो उसने कई लिखी हैं। पर उसके जिन ग्रन्थों की बहुत अधिक प्रसिद्धि है, वे ये हैं—

१—अर्थशास्त्र के अनिश्चित प्रश्नों पर निबन्ध (Essays on Unsettled Questions in Political Economy.)

२—तर्क-शास्त्र पद्धति (System of Logic.)

३—अर्थ-शास्त्र (Political Economy.)

४—स्वाधीनता (Liberty.)

५—पारलियामेंट के सुधार-सम्बन्धी विचार (Thoughts on Parliamentary Reform.)

६—प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य-व्यवस्था (Representative Government.)

७—स्त्रियों की पराधीनता (Subjection of women.)

८—हैमिल्टन के तत्त्व-शास्त्र की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy.)

९—उपयोगिता-तत्त्व (Utilitarianism.)

'प्रकृति' (Nature) और 'धर्म की उपयोगिता' (Utility of Religion) इन दो विषयों पर भी उसने निबन्ध लिखे; पर वे उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए। मिल के पिता ने मिल को किसी विशेष प्रकार की धर्म-शिक्षा नहीं दी; क्योंकि उसका विश्वास किसी धर्म पर न था। पर उसने सब धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के तत्त्व मिल को अच्छी तरह समझा

दिये थे। लड़कपन में इस तरह का संस्कार होने के कारण मिल के धार्मिक विचार अनोखे थे। उनको उसने 'धर्म की उपयोगिता' में बड़ी ही योग्यता से प्रकट किया है। उसकी स्त्री विदुषी थी। तत्त्व-विद्या में वह भी खूब प्रवीण थी। पुस्तक-रचना में भी उसे अच्छा अभ्यास था। 'स्वाधीनता और स्त्रियों की पराधीनता' को मिल ने उसी की सहायता से लिखा है। और भी कई पुस्तकें लिखने में उसने मिल की सहायता की थी। अपने आत्म-चरित में मिल ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। 'स्वाधीनता' को उसने अपनी स्त्री ही को समर्पण किया है। उसका समर्पण भी बहुत ही विलक्षण है। उसमें उसने अपनी स्त्री की प्रशंसा की पराकाष्ठा कर दी है। मिल बड़ा उदार पुरुष था। सत्य के खोजने में वह सदैव तत्पर रहता था। जिस बात से अधिक आदमियों का हित हो उसीको वह सब से अधिक सुखदायक समझता था। इस सिद्धान्त को उसने अपने 'उपयोगिता-तत्त्व' में बहुत अच्छी तरह प्रमाणित किया है। नई और पुरानी चाल की ज़रा भी परवा न करके जिसे वह अधिक युक्तियुक्त समझता था, उसी को वह मानता था। वह सुधारक था; परन्तु उच्छृंखल और अविवेकी न था। उसने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। जो लोग बिना समझे-बूझे पुरानी बातों को वेद-वाक्य मानते थे, उनके अनुचित विश्वासों को उसने विचलित कर दिया; उनकी सदसद्विचार शक्ति को उसने जागृत कर दिया; उनकी विवेचना-

रूपी तलवार पर जो मोरचा लग गया था, उसे उसने जड़ से उड़ा दिया।

मिल के ग्रन्थों में स्वाधीनता, उपयोगिता तत्त्व, न्यायशास्त्र और स्त्रियों की पराधीनता—इन चार ग्रन्थों का बड़ा आदर है। इन पुस्तकों में मिल ने जिन विचारों से—जिन दलीलों से—काम लिया है, वे बहुत प्रबल और अखण्डनीय हैं। यद्यपि कई विद्वानों ने मिल की विचार-परम्परा का खण्डन किया है, तथापि वे कृतकार्य नहीं हुए—उनको कामयाबी नहीं हुई। ये ग्रन्थ सब कहीं प्रीतिपूर्वक पढ़े जाते हैं। स्वाधीनता में मिल ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे बहुत ही दृढ़ प्रमाणों के आधार पर स्थित हैं। यह बात इस पुस्तक को पढ़ने से अच्छी तरह मालूम हो जाती है।

इस पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। उनकी विषय-योजना इस प्रकार है—

पहला अध्याय—प्रस्तावना।

दूसरा अध्याय—विचार और विवेचना की स्वाधीनता।

तीसरा अध्याय—व्यक्ति-विशेषता भी सुख का साधन है।

चौथा अध्याय—व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा।

पाँचवाँ अध्याय—प्रयोग।

मिल साहब का मत है कि व्यक्ति के बिना समाज या गवर्नमेंट का काम नहीं चल सकता और समाज या गवर्नमेंट के बिना व्यक्ति का काम नहीं चल सकता। अतएव दोनों को

परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा है। पर एक को दूसरे के काम में अनुचित हस्तक्षेप करना मुनासिब नहीं। जिस काम से किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं, उसे करने के लिए हर आदमी स्वाधीन है। न उसमें समाज ही को कोई दस्तन्दाज़ी करना चाहिए और न गवर्नमेंट ही को। पर हाँ, उस काम से किसी आदमी का अहित न होना चाहिए। ग्रन्थकार ने स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। उसकी विवेचना-शक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। उसने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का बहुत ही मज़बूत दलीलों से खण्डन किया है। उसकी तर्कना प्रणाली खूब सरल और प्रमाण-पूर्ण है।

स्वाधीनता का दूसरा अध्याय सब अध्यायों से अधिक महत्त्व का है। इसी से वह औरों से बड़ा भी है। इस अध्याय में जो बातें हैं, उनके जानने की आजकल बड़ी ही ज़रूरत है। आदमी का सुख विशेष करके उसकी मानसिक स्थिति पर अवलम्बित रहता है। मानसिक स्थिति अच्छी न होने से सुख की आशा करना दुराशा मात्र है। विचार और विवेचना करना मन का धर्म है। अतएव उनके द्वारा मन को उन्नत करना चाहिए। मनुष्य के लिए सबसे अधिक अनर्थकारक बात विचार और विवेचना का प्रतिबन्ध है। जिसे जैसे विचार सूझ पड़ें, उसे उन्हें साफ़ साफ़ कहने देना चाहिए। इसी में मनुष्य का कल्याण है। इसी से, जितने सभ्य देश हैं, उनकी गवर्नमेंटों ने सब लोगों को यथेच्छ विचार, विवेचना और आलोचना

करने की अनुमति दे रक्खी है। कल्पना कीजिए कि किसी विषय में कोई आदमी अपनी राय देना चाहता है और उसकी राय ठीक है। अब यदि उसे बोलने की अनुमति न दी जायगी तो सब लोग उस सच्ची बात को जानने से वञ्चित रहेंगे। यदि वह बात या राय सर्वथा सच नहीं है, केवल उसका कुछ ही अंश सच है, तो भी यदि वह प्रकट न की जायगी—तो उस सत्यांश से भी लोग लाभ न उठा सकेंगे। अच्छा, अब मान लीजिये कि कोई पुराना ही मत ठीक है, नया मत ठीक नहीं है। इस हालत में भी यदि नया मत न प्रकट किया जायगा तो पुराने की खूबियाँ लोगों की समझ में अच्छी तरह न आवेंगी। दोनों के गुण-दोषों पर जब अच्छी तरह विचार होगा, तभी यह बात ध्यान में आवेगी, अन्यथा नहीं। एक बात और भी है। वह यह कि प्रचलित रूढ़ि या परम्परा से प्राप्त हुई बातों या रस्मों के विषय में प्रतिपक्षियों के साथ वाद-विवाद न करने से उनकी सजीवता जाती रहती है। उनका प्रभाव धीरे-धीरे मन्द होता जाता है। इसका फल यह होता है कि कुछ दिनों में लोग उनके मतलब को बिलकुल ही भूल जाते हैं और सिर्फ़ पुरानी लकीर को पीटा करते हैं।

मिल की मूल पुस्तक की भाषा बहुत क्लिष्ट है। कोई कोई वाक्य प्रायः एक एक पृष्ठ में समाप्त हुए हैं। विषय भी पुस्तक का क्लिष्ट है। इससे इस अनुवाद में हम को बहुत कठिनता का सामना करना पड़ा है। हमको डर है कि हमसे अनुवाद-

सम्बन्धी अनेक भूलें हुई होंगी। अतएव हमको उचित था कि हम ऐसे कठिन काम में हाथ न डालते। पर जिन बातों का विचार इस पुस्तक में है, उनके जानने की इस समय बड़ी आवश्यकता है। अतएव मिल साहब के विचारों के अनुसार जब तक कोई अनुवाद सर्वथा निर्दोष न प्रकाशित हो, तब तक इसका जितना भाग निर्दोष या पढ़ने के लायक़ हो, उतने ही से पढ़नेवाले स्वाधीनता के सिद्धान्तों और लाभों से जानकारी प्राप्त करें।

यदि कोई यह कहे कि हिन्दी के साहित्य का मैदान बिलकुल ही सूना पड़ा है तो उसके कहने को अत्युक्ति न समझना चाहिए। दस पाँच क़िस्से, कहानियाँ, उपन्यास या काव्य आदि पढ़ने लायक पुस्तकों का होना साहित्य नहीं कहलाता और न कूड़े-कचरे से भरी हुई पुस्तकों ही का नाम साहित्य है। इस अभाव का कारण हिन्दी पढ़ने-लिखने में लोगों की अरुचि है। हमने देखा है कि जो लोग अच्छी अँगरेज़ी जानते हैं, अच्छी तनख़्वाह पाते हैं और अच्छी जगहों पर काम करते हैं, वे हिन्दी के मुख्य मुख्य ग्रन्थों और अख़बारों का नाम तक नहीं जानते। आश्चर्य यह है कि अपनी इस अनभिज्ञता पर वे लज्जित भी नहीं होते। हाँ, लज्जित वे इस बात पर ज़रूर होते हैं, यदि समय का सत्यानाश करनेवाले अपने मित्र-मण्डल में बैठकर वे यह न बतला सकें कि अमुक न्शी साहब, या अमुक मिरज़ा साहब, या अमुक पण्डित (!)

साहब आजकल कहाँ पर डिप्युटी कलेक्टर हैं; अमुक साहब कहाँ की कलेक्टरी पर बदल दिये गये हैं; अमुक सदरआला साहब कब छुट्टी पर जायँगे; अमुक मुनसरिम साहब के लड़के की शादी कहाँ हुई है; अमुक हेड मास्टर साहब नौकरी से कब अलग होंगे! एक दिन एक मशहूर ज़िला-स्कूल के हेड-मास्टर ने अपने स्कूल के ढोलन (·Roller) का इतिहास वर्णन करके हमारे दो घण्टे नष्ट कर दिये। पर अनेक अच्छी अच्छी पुस्तकों को नाम लेने पर आपने एक को भी देखने की इच्छा प्रकट न की। इसका कारण रुचि-विचित्रता है। यदि ऐसे आदमियों में से दस पाँच भी अपने देश के साहित्य की तरफ़ ध्यान दें और उपयोगी विषयों पर पुस्तकें लिखें तो बहुत जल्द देशोन्नति का द्वार खुल जाय। क्योंकि शिक्षा के प्रचार के बिना उन्नति नहीं हो सकती; और देश में फ़ी सदी दो चार आदमियों का शिक्षित होना न होने के बराबर है। शिक्षा से यथेष्ट लाभ तभी होता है जब हर गाँव में उसका प्रचार हो; और यह बात तभी सम्भव है जब अच्छे अच्छे विषयों की पुस्तकें देश-भाषा में प्रकाशित होकर सस्ते दामों पर बिकें। जापान की तरफ़ देखिए। उसने जो इतना जल्द इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है, उसका कारण विशेष करके शिक्षा का प्रचार ही है। हमने एक जगह पढ़ा है कि जिस जापानी ने मिल साहब की स्वाधीनता (Liberty) का अपनी भाषा में अनुवाद किया, वह सिर्फ़ इसी एक पुस्तक को लिखकर अमीर हो गया। थोड़े

ही दिनों में उसकी लाखों कापियाँ बिक गईं। जापान के राजेश्वर खुद मिकाडो ने उसकी कई हज़ार कापियाँ अपनी तरफ़ से मोल लेकर अपनी प्रजा को मुफ़्त में बाँट दीं। परन्तु इस देश की दशा बिलकुल ही उलटी है। यहाँ मोल लेने का तो नाम ही न लीजिये, यदि इस तरह की पुस्तकें यहाँ के राजा, महाराजा और अमीर आदमियों के पास कोई यों ही भेज दे, तो भी शायद वे उन्हें पढ़ने का कष्ट न उठावें। इससे बहुत सम्भव है कि हमारी यह पुस्तक बे-छपी ही रह जाय! खैर!

इस दशा में हमारी राय यह है कि इस समय हिन्दी में जितनी पुस्तकें लिखी जायँ, खूब सरल भाषा में लिखी जायँ। यथासम्भव उनमें संस्कृत के कठिन शब्द न आने पावें। क्योंकि जब लोग सीधी सादी भाषा की पुस्तकों ही को नहीं पढ़ते, तब वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तकों को क्यों छूने लगे। अतएव जो शब्द बोलचाल में आते हैं—फिर चाहे वे फ़ारसी के हों, चाहे अरबी के हों, चाहे अँगरेजी के हों—उनका प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। पुस्तक लिखने का मतलब सिर्फ यह है कि उसमें जो कुछ लिखा गया है, उसे लोग समझ सकें। यदि वह समझ में न आया, अथवा क्लिष्टता के कारण उसे किसी ने न पढ़ा, तो लेखक की मिहनत ही बरबाद जाती है। पहले लोगों में साहित्य-प्रेम पैदा करना चाहिए। भाषा-पद्धति पीछे से ठीक होती रहेगी।

इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर हमने मिल की स्वाधीनता

के अनुवाद में हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत इत्यादि के शब्द—जहाँ पर हमें जैसी ज़रूरत जान पड़ी है—लिखे हैं। मतलब को ठीक ठीक समझाने के लिए कहीं कहीं पर हमने एक ही बात को दो दो तीन तीन तरह से लिखा है। कहीं कहीं पर एक ही अर्थ के बोधक अनेक शब्द हमने रक्खे हैं। कहीं मूल के भाव को हमने बढ़ा दिया है और कहीं पर कम कर दिया है। यदि पुस्तक उपयोगी समझी गई और यदि लोगों ने इसे पढ़ने की कृपा की (जिसकी हमें बहुत कम आशा है) तो इसकी भाषा ठीक करने में देर न लगेगी। इस पुस्तक का विषय इतना कठिन है कि कहीं कहीं पर इच्छा न रहते भी, विवश होकर, हमें संस्कृत के क्लिष्ट शब्द लिखने पड़े हैं; क्योंकि उनसे सरल शब्द हमें मिले ही नहीं।

जून १९०४ में जब हम झाँसी से कानपुर आये, तब हमने, आजकल के समय के अनुकूल, कुछ उपयोगी पुस्तकें लिखने का विचार किया। हमारा इरादा पहले और एक पुस्तक के लिखने का था। परन्तु बीच में एक ऐसी घटना हो गई जिससे हमें उस इरादे को रहित करके इस पुस्तक को लिखना पड़ा। ७ जनवरी को आरम्भ करके १२ जून को हमने इसे समाप्त किया। बीच में, कई बार, अनिवार्य कारणों से, अनुवाद का काम हमें बन्द भी रखना पड़ा। किसी सार्वजनिक समाज की सार्वजनिक बातों की यदि समालोचना होती है तो वह समालोचना उसे अक्सर अच्छी नहीं लगती। इससे उसे रोकने

की वह चेष्टा करता है। जब उसे यह बात बतलाई जाती है कि सार्वजनिक कामों की आलोचना का प्रतिबन्ध करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है, तब वह अक्सर यह कह बैठता है कि हम समालोचना को नहीं रोकते, किन्तु "व्यर्थ निन्दा" को रोकना चाहते हैं। अतएव ऐसे व्यर्थ-निन्दा-प्रतिरोधक लोगों के लाभ के लिए हमने पहले इसी पुस्तक को लिखना मुनासिब समझा; क्योंकि प्रतिबन्ध-हीन विचार और विवेचना की जितनी महिमा इस पुस्तक में गाई गई है, उतनी शायद ही कहीं गाई गई हो।

जिस आदमी को सर्वज्ञ होने का दावा नहीं है, उसे अपने काम-काज की विवेचना या समालोचना को रोकने की भूल से भी चेष्टा न करनी चाहिए। और इस तरह की चेष्टा करना सार्वजनिक समाज के लिए तो और भी अधिक हानिकारक है। भूलना मनुष्य की प्रकृति है। बड़े बड़े महात्माओं और विद्वानों से भूलें होती हैं। इससे यदि समालोचना बन्द कर दी जायगी—यदि विचार और विवेचना की स्वाधीनता छीन ली जायगी—तो सत्य का पता लगाना असम्भव हो जायगा। लोगों की भूलें उनके ध्यान में आवेंगी किस तरह? हाँ, यदि वे सर्वज्ञ हों तो बात दूसरी है।

व्यर्थ निन्दा कहते किसे हैं? व्यर्थ निन्दा से मतलब शायद झूठी निन्दा से है। जिसमें जो दोष नहीं है, उसमें उस दोष के आरोपण का नाम व्यर्थ निन्दा हो सकता है। परन्तु इसका

जज कौन है कि निन्दा व्यर्थ है या अव्यर्थ ? जिसकी निन्दा की जाय, वह ? यदि यही न्याय है तो जितने मुजरिम हैं, उन सब की ज़बान ही को सेशन कोर्ट समझना चाहिए। इतना ही क्यों, उस दशा में यह भी मान लेना चाहिए कि हाई कोर्ट और प्रिवी कौंसिल के जजों का काम भी मुजरिमों की ज़बान ही के सिपुर्द है। कौन ऐसा मुजरिम होगा जो अपने ही मुँह से अपने को दोषी क़बूल करेगा ? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी निन्दा को सुनकर खुशी से इस बात को मान लेगा कि मेरी उचित निन्दा हुई है ? जो इतने साधु, इतने सत्यशील, इतने सच्चरित्र होते हैं कि अपनी यथार्थ निन्दा को निन्दा और दोष को दोष कबूल करते नहीं हिचकते, उनकी कभी निन्दा ही नहीं होती। उन पर कभी किसी तरह का जुर्म ही नहीं लगाया जाता। अतएव जो कहते हैं कि हम अपनी व्यर्थ निन्दा मात्र को रोकना चाहते हैं, वे मानों इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारी बुद्धि ठिकाने नहीं; हम व्यर्थ प्रलाप कर रहे हैं; हम अपनी अज्ञानता को सबके सामने रख रहे हैं। जो समझदार हैं, वे अपनी निन्दा को प्रकाशित होने देते हैं; और जब निन्दा प्रकाशित हो जाती है तब, उपेक्ष्य होने के कारण, या तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, या वे इस बात को सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि उनकी जो निन्दा हुई है, वह व्यर्थ है। अपने पक्ष का जब वे समर्थन कर चुकते हैं, तब सर्व-साधारण जज का काम करते हैं। दोनों पक्षों की दलीलों

को सुनकर वे इस बात का फ़ैसला करते हैं कि निन्दा व्यर्थ हुई है या अव्यर्थ।

हम कहते हैं कि जब तक कोई बात प्रकाशित न होगी, तब तक उसकी व्यर्थता या अव्यर्थता साबित किस तरह होगी? क्या निन्द्य व्यक्ति को उसकी निन्दा सुना देने ही से काम निकल सकता है? हरगिज़ नहीं। क्योंकि सम्भव है, वह अपनी निन्दा को स्तुति समझे; और यदि निन्दा को वह निन्दा मान भी ले तो उसे दण्ड कौन देगा? जिन लोगों के काम-काज का सर्व-साधारण से सम्बन्ध है, उनकी निन्दा सुनकर सब लोग जब तक उनका धिक्कार नहीं करते, तब तक उनको धिक्कार-रूप उचित दण्ड नहीं मिलता। जो लोग इन दलीलों को नहीं मानते, वे शायद अख़बारवालों से किसी दिन यह कहने लगें कि तुमको जिसकी निन्दा करना हो या जिस पर दोष लगाना हो, उसे अख़बार में प्रकाशित न करके चुपचाप उसे लिख भेजो। परन्तु जिनकी बुद्धि ठिकाने है—जो पागल नहीं हैं—वे कभी ऐसा न कहेंगे।

कल्पना कीजिए कि किसी की राय या समालोचना को बहुत आदमियों ने मिल कर झूठ ठहराया; उन्होंने निश्चय किया कि अमुक आदमी ने अमुक सभा, समाज, संस्था या व्यक्ति की व्यर्थ निन्दा की; तो क्या इतने से ही उनका निश्चय निर्भ्रान्त सिद्ध हो गया? साक्रेटिस पर व्यर्थ निन्दा करने का दोष लगाया गया। इसलिए उसे अपनी जान से भी हाथ धोना

पड़ा। परन्तु इस समय सारी दुनिया इस अविचार के लिए अफ़सोस कर रही है, और साक्रेटिस के सिद्धान्तों की शत-मुख से प्रशंसा हो रही है। क्राइस्ट के उपदेशों को निन्द्य समझ कर यहूदियों ने उसे सूली पर चढ़ा दिया। फिर क्यों आधी दुनिया इस निन्दक के चलाये हुए धर्म को मानती है? बौद्धों ने शङ्कराचार्य को क्या अपने मत का व्यर्थ निन्दक नहीं समझा था? फिर, बतलाइए यह सारा हिन्दुस्तान क्यों उनको शङ्कर का अवतार मानता है? जब सैकड़ों वर्ष वाद-विवाद होने पर भी निन्दा की यथार्थता नहीं साबित की जा सकती, तब किसी बात को पहले ही से कह देना कि यह हमारी व्यर्थ निन्दा है, अतएव इसे मत प्रकाशित करो, कितनी बड़ी धृष्टता का काम है? निन्दा-प्रतिबन्धक मत के अनुयायी ही इस धृष्टता—इस अविचार का परिमाण निश्चित करने की कृपा करें।

जिन लोगों का यह ख़याल है कि "व्यर्थ निन्दा" के प्रकाशन को रोकना अनुचित नहीं, वे सदय-हृदय होकर यदि मिल साहब की दलीलों को सुनेंगे और अपनी सर्वज्ञता को ज़रा देर के लिए अलग रख देंगे तो उनको यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि वे कितनी समझ रखते हैं। निन्दा-प्रतिबन्धक मत के जो पक्षपाती मिल साहब की मूल पुस्तक को अँगरेज़ी में पढ़ने के बाद "व्यर्थ निन्दा" रोकने की चेष्टा करते हैं, उनके अज्ञान, हठ और दुराग्रह की सीमा और भी अधिक दूर-गामिनी है। क्योंकि जब मिल के सिद्धान्तों का खण्डन बड़े

बड़े तत्त्व-दर्शी विद्वानों से भी अच्छी तरह नहीं हो सकता, तब औरों की क्या गिनती है ? परन्तु यदि उन्होंने मूल पुस्तक को नहीं पढ़ा तो अब तो वे कृपा-पूर्वक इस अनुवाद को पढ़ें। इससे उनकी समझ में यह बात आ जायगी कि अपनी निन्दा व्यर्थ हो चाहे अव्यर्थ—रोकने की चेष्टा करना मानों इस बात का सबूत देना है कि वह निन्दा झूठ नहीं, बिलकुल सच है। व्यर्थ निन्दा के असर को दूर करने का एक मात्र उपाय यह है कि जब निन्दा प्रकाशित हो ले, तब उसका स-प्रमाण खण्डन किया जाय और दोनों पक्षों के वक्तव्य का फ़ैसला सर्व-साधारण की राय पर छोड़ दिया जाय। ऐसे विषयों में जन-समुदाय ही जज का काम कर सकता है। उसी की राय मान्य हो सकती है। जो इस उपाय का अवलम्बन नहीं करते, जो ऐसी बातों को जन-समूह की राय पर नहीं छोड़ देते, जो अपने मुक़दमे के आप ही जज बनना चाहते हैं, उनके तुच्छ, हेय और उपेक्ष्य प्रलापों पर समझदार आदमी कभी ध्यान नहीं देते। ऐसे आदमी तब होश में आते हैं जब अपने अहंमानी स्वभाव के कारण अपना सर्वनाश कर लेते हैं। ईश्वर इस तरह के आदमियों से समाज की रक्षा करे!

[अगस्त १९०५.

७

सबसे बड़ा हीरा

दक्षिणी अफरीक़ा में बोर लोगों की पुरानी राजधानी प्रिटोरिया नगर है। उसके पास प्रीमियर नाम की एक हीरे की खान है। उसमें, कुछ समय हुआ, एक बहुत बड़ा हीरा निकला है। यह हीरा आज कल लन्दन में विराज रहा है। बड़ी खबरदारी के साथ ट्रांसवाल से वह लन्दन पहुँचाया गया है। जितने बड़े बड़े हीरे इस समय तक पाये गये हैं, उनसे यह कई गुना बड़ा है। देखने में वह काँच के एक छोटे ग्लास के बराबर है। जिस समय उसके निकलने की खबर दूर दूर तक पहुँची, उस समय उसकी क़ीमत अन्दाज़न एक करोड़ रुपए के कूती गई। जिन्होंने उसे देखा है, वे इस अन्दाज़ को ग़लत नहीं बतलाते। यह विशाल हीरा नाप में ४×२½×१¼ इञ्च है। इसका वजन ३०३२ कैरट है। अर्थात् कोई तीन पाव के क़रीब!

यह हीरा प्रायः निर्दोष है। एक आध निशान इसमें कहीं कहीं पर हैं। पर काट कर सुडौल करते समय वे निकल जायँगे और हीरे के आकार में विशेष कमी न होगी। यह बिल-

कुल सफ़ेद और पारदर्शक है। देखने में यह बर्फ़ का एक बड़ा टुकड़ा सा जान पड़ता है। एक विलायती जौहरी का मत है कि आज तक जितने अच्छे अच्छे हीरे मिले हैं, उन सब से यह अधिक स्वच्छ और पानीदार है। इसकी बनावट से मालूम होता है कि अपनी स्थिति में यह हीरा बेहद बड़ा रहा होगा। मुमकिन है, इसका वजन मनों रहा हो! इस प्रचण्ड रत्न-राज के नीचे का हिस्सा भर शेष रह गया है; और सब कई टुकड़ों में होकर उड़ गया है। नहीं मालूम, ये उड़े हुए टुकड़े कहाँ गये, या क्या हुए अथवा वे कभी किसी को मिलेंगे या नहीं।

आश्चर्य की बात है कि हीरे की उत्पत्ति कोयले से होती है। कोयले के समान काली चीज से हीरे के समान दीप्तिमान रत्न निकलता है! पृथ्वी के पेट में भरी हुई असीम उष्णता के योग से हीरे बनते हैं। जब वह उष्णता अतुल वेग के साथ पृथ्वी की तहों को तपाती और फाड़ती हुई ऊपर आती है, तब किसी किसी जगह एक विशेष प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया शुरू होती है। जिस जगह इस प्रक्रिया की सहायक सब सामग्री रहती है, उस जगह हीरे की उत्पत्ति होती है। दक्षिणी आफ्रीका की खानों से यह साफ जाहिर होता है कि वहाँ पर किसी समय ज्वालामुखी पर्वतों के मुँह से बहुत ही भयङ्कर स्फोट हुए हैं। जिन मुँहों से होकर पृथ्वी के पेट से आग निकली है, वे अब तक बने हुए हैं। उन्हींके आस-पास,

एक प्रकार की पीली जमीन में, गड़े हुए हीरे मिलते हैं। पर उस जमीन की बनावट से यह मालूम होता है कि जो हीरे वहाँ निकलते हैं, वे वहीं नहीं बने। वे उससे भी बहुत दूर नीचे बने थे। वहाँ से ज्वालागर्भ पर्वतों के स्फोट के समय वे ऊपर फेंक दिये गये हैं। विषम ज्वाला और अतिशय दबाव के कारण, वहीं, उतनी गहराई में, कोयले के साथ और और चीजों का रासायनिक संयोग होने से वे उत्पन्न हुए होंगे। प्रीमियर खान के पास जो ज्वाला-वमन हुआ होगा, उसका वेग बहुत ही प्रचण्ड रहा होगा। वेग ही की प्रचण्डता के कारण, जो हीरा निकला है, उसकी शिला के टुकड़े टुकड़े हो गये होंगे।

इस रत्न-शिला का जो टुकड़ा निकला है, वह छोटा नहीं है। वह बहुत बड़ा है। खान के मालिक उसकी प्राप्ति से बेहद खुश हैं। यह इस तरह की खुशी है कि इसने उनको अन्देशे में नहीं, खतरे तक में डाल दिया है। उनको यह विशाल हीरक-रत्न बोझ सा मालूम हो रहा है। कोई मामूली आदमी तो उसे ख़रीद ही नहीं सकता। यदि कोई खरीदेगा तो राजा या राज-राजेश्वर। परन्तु राजेश्वरों को भी इसकी कीमत देते खलेगा। इस हीरे की कीमत नियत करना केवल एक काल्पनिक बात है; सिर्फ एक खयाली अन्दाजा है। १७५० से १८७० ईसवी तक हीरे का दाम उसके वजन के वर्ग-मूल के हिसाब से लगाया जाता था। दूसरे देशों में हीरे की तौल कैरट से होती है। एक कैरट में चार ग्रेन होते हैं और एक माशे में कोई १५ ग्रेन।

प्रत्येक हीरे की कीमत उसके रूप और द्युति के अनुसार होती है। किसी की थोड़ी होती है, किसी की बहुत। कल्पना कीजिए कि किसी हीरे की कीमत फी कैरट १०० रुपये के हिसाब से निश्चित हुई, तो दो कैरट की कीमत २×२=१००=४०० रुपये और तीन कैरट की कीमत ३×३×१००=९०० रुपये हुए। अब यह जो नया हीरा निकला है, इसकी कीमत इसी हिसाब से लगाइए। इसका वज़न है ३०३२ कैरट। अतएव ३०३२×३०३२×१००=९१९,३०,२,४०० रुपये कीमत हुई। एक अरब के करीब। कौन इतनी कीमत देगा? जब से आफ़रीका में हीरे निकलने लगे, तब से हीरों की कीमत नियत करने का यह तरीका उठ गया। परन्तु जौहरियों का अन्दाज़ा है कि यह विशाल हीरा ७५,००,००० से १,५०,००,००० रुपये तक बिक जायगा। इतना रुपया क्या थोड़ा है! बहुधा ऐसा होता है कि बड़े बड़े हीरों को काट काट कर छोटे छोटे टुकड़े कर डाले जाते हैं। इस तरह उन्हें बेचने में सुभीता होता है। सम्भव है, इस हीरे की भी यही दशा हो। परन्तु इतने अच्छे और इतने बड़े हीरे को छिन्न-भिन्न कर देना बड़ी क्रूरता का काम होगा। तथापि बड़े बड़े हीरों को रखना धोखे और खतरे में पड़ना है। इतिहास इस बात की गवाही दे रहा है कि जिनके पास बड़े बड़े हीरे रहे हैं, उन्हें अनेक आपदाओं में फँसना पड़ा है।

टिफ़ानी नाम की खान से ९६९ कैरट वज़न का जो हीरा निकला था, वह आज तक सब से बड़ा समझा जाता था। पर

इस नये हीरे ने बड़ेपन में उसका भी नम्बर छीन लिया। जिस समय यह हीरा तराश कर ठीक किया जायगा, उस समय उसकी सूरत और ही तरह की हो जायगी और वजन भी उसका कम हो जायगा। तिस पर भी यह दुनिया भर के हीरों से कई गुना बड़ा रहेगा। प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा काटने से, वज़न में बहुत कम हो गया है। उसका आकार भी छोटा हो गया है। पहले उसका वज़न ७९३ कैरट था। परन्तु जिस आदमी ने उसे काट छाँट कर ठीक किया, वह हीरा-तराशी के काम को अच्छी तरह न जानता था। इसका फल यह हुआ कि कोहेनूर का वज़न सिर्फ़ २७९ कैरट रह गया। वह एक बार फिर तराशा गया। इस बार कम होकर उसका वज़न १०६ ही कैरट रह गया। इस हीरे का इतिहास पाठकों को मालूम ही होगा। इसलिए पिष्ट-पेषण की क्या ज़रूरत?

प्रिंस आरलफ़ नाम का हीरा भी एक बहुत प्रसिद्ध हीरा है। वह रूस-राज के पास है। उसका आकार गुलाब का जैसा है। उसका वज़न १९४$\frac{3}{4}$ कैरट है। फ्लाटाइन नामक हीरा पीले रङ्ग का है। वह आस्ट्रिया के राजभवन की शोभा बढ़ा रहा है। उसका वज़न १३३ कैरट है। स्टार आफ़ साउथ अर्थात् "दक्षिण का तारा" नाम का हीरा ब्रेज़ील में एक हबशी को १८५३ ईसवी में मिला था। उसका वज़न २५४ कैरट है। दक्षिणी अमेरिका में जितने हीरे निकले हैं, यह उनमें सबसे बड़ा है। काटने पर इसका वज़न १२४ कैरट रह गया है। रूस-

राज के पास एक और बहुत बड़ा हीरा है। उसका नाम है ग्रेट (बड़ा) मोग़ल। वज़न उसका २७९ कैरट है। सांसी नामक हीरा भी बहुत दिनों तक रूस-राज के पास था। पर १७९९ में उसे एक जौहरी ने २,१०,००० रुपये में मोल ले लिया। यह हीरा कई आदमियों के पास रह चुका है। यह सांसी नाम के एक आदमी के पास था। इसी लिए इसका नाम सांसी पड़ा। एक दफे उस सांसी ने इसे राजा तीसरे हेनरी के पास भेजा। जो आदमी उसे लेकर चला, उसे रास्ते में चोरों ने मार डाला। पर उसने मरने के पहले ही वह हीरा निगल लिया था; इससे वह चोरों को न मिला। सांसी ने उसे उस आदमी के मेदे को फाड़ कर निकाल लिया।

इस तरह कोई चौदह पन्द्रह हीरे इस समय संसार में बहुत क़ीमती समझे जाते हैं। पर यह नया हीरा द्युति और विशालता में उन सब से बढ़कर है।

[अक्तूबर १९०५.

८

जापान की शिक्षा-प्रणाली

नेशनल रिव्यू नामक अँगरेजी के सामयिक पत्र में एक लेख जापान की शिक्षा-प्रणाली पर निकला है। उसमें लिखा है कि जापान के छोटे-छोटे लड़के जो मदरसों में पढ़ते हैं, वे छः बजे सुबह खाना खा चुकते हैं। सात बजे वे मदरसे जाते हैं और बारह बजे तक वहाँ रहते हैं। इन पाँच घण्टों में खेल-कूद के लिए भी उन्हें वक्त मिलता है। इतवार को सब दिन छुट्टी रहती है; शनिवार को आधे दिन। बीच जाड़ों में १५ दिन की छुट्टी होती है और एक एक हफ्ते की अप्रैल और अगस्त में। एक तजरबेकार अँगरेज शिक्षक लिखता है कि उसने जापानी लड़कों को आपस में झगड़ा करते कभी नहीं देखा। साल में कम से कम एक दफ़े लड़कों को बाहर सफर करने जाना पड़ता है। इस सफ़र में जितनी बातें सिखलाई जा सकती हैं, सिखलाई जाती हैं। बेत की सज़ा नहीं दी जाती। जापानी स्कूल मास्टर कभी गुस्सा नहीं करते, गुस्सा करने से वे लोग दूसरों की नज़र में गिर जाते हैं। लड़के अपना सबक खूब दिल लगा कर याद करते हैं। सबक याद करने से जी चुराना वे जानते ही नहीं। अमीर और ग़रीब सबके लड़के एक ही साथ मदरसे जाते हैं। जापानी लोग काम करने और बोलने में बेहद शिष्टाचार दिखलाते हैं; वे कभी

किसी के साथ असभ्यता का व्यवहार नहीं करते। जापान में वज़ीफे भी खूब दिये जाते हैं। कुछ वजीफे वहाँ उधार के तौर पर भी दिये जाते हैं। जिन लड़कों को ऐसे वजीफे मिलते हैं, वे जब पढ़ लिख कर तैयार हो जाते हैं, तब वे अपने ही समान दूसरे लड़के के फायदे के लिए अपने वज़ीफे का रुपया लौटा देते हैं। मदरसों में कसरत करना भी सिखाया जाता है। लड़के तोते की तरह किताबें नहीं रटने पाते। प्रारम्भिक मदरसों में हफ्ते में दो घंटे नीति-शिक्षा दी जाती है। जो मदरसे कुछ बड़े हैं, उनमें हफ्ते में एक घंटा नीति-शिक्षा दी जाती है। नीति की शिक्षा में, ऐतिहासिक और मामूली आदमियों को उदाहरण देकर, नीति के तत्त्व अच्छी तरह समझा दिये जाते हैं। नीति-शिक्षा में जो उदाहरण दिये जाते हैं, उनमें बहादुरों की बहादुरी का ज़िक्र नहीं रहता। उनमें उदारता, दया और आत्म-संयमन (अपने आपको काबू में रखना) आदि गुणों की महिमा रहती है। जापानियों में धार्म्मिक उत्साह कम, पर देश-भक्ति और उदारता अधिक होती है। १८९२ ईसवी में जापानी लड़कों की एक क्लास से यह पूछा गया कि उनकी सबसे बड़ी अभिलाषा क्या है? इसके जवाब में उन्होंने लिखा—"सबसे अधिक प्यारे अपने राजेश्वर के लिए मर जाने की अनुमति पाना"। जापानी लोग अपने राजा को ईश्वर का अवतार समझते हैं।

जापान में स्त्री-शिक्षा का भी अच्छा प्रचार है। १९००

ईसवी में स्त्रियों की जो यूनीवर्सिटी (विश्व-विद्यालय) टोकियो में स्थापित हुई, वह सब में श्रेष्ठ है। जो लोग पुराने खयालात के थे, उन्होंने इस विश्व-विद्यालय के स्थापित होने में बहुत कुछ प्रतिकूलता की। तिस पर भी मतलब से अधिक चन्दा इकट्ठा हो गया। जितनी इमारतें दरकार थीं, सब बन गईं और विश्व-विद्यालय स्थापित हो गया। उसके स्थापित होने के पहले ही उसमें दाखिल होने के लिए इतनी अर्ज़ियाँ आईं कि कई सौ अर्ज़ियाँ नामंजूर करनी पड़ीं; क्योंकि सबके लिए जगह ही न थी। इस विश्व-विद्यालय में इस समय कोई ७०० स्त्रियाँ हैं। उनकी शिक्षा के लिए ४६ अध्यापक, ६ शिक्षक और ६ व्याख्यान देनेवाले हैं। अध्यापकों में सिर्फ दो इंगलैंड के हैं और एक अमेरिका का; बाकी सब जापान के। जिन जिन विषयों की शिक्षा स्त्रियों को अपेक्षित है, वे सब विषय यहाँ सिखलाये जाते हैं। बच्चों का पालन-पोषण, सफाई, कला-कौशल और गृहस्थी के काम-काज के सिवा शिष्टाचार, गाना-बजाना, तसवीर खींचना और फूलों की मालायें और गुलदस्ते आदि बनाना भी सिखलाया जाता है। अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन, भूगोल, कानून, साहित्य इत्यादि विषयों की भी शिक्षा दी जाती है। जो लड़कियाँ और स्त्रियाँ विश्व-विद्यालय के बोर्डिंग-हाउस में रहती हैं, उनको अपने हाथ से गृहस्थी के काम-काज करने की शिक्षा स्त्री-अध्यापिकायें अपने पास रख कर देती हैं।

[जनवरी १६०६.

९

जापान के स्कूलों में जीवन-चरित शिक्षा

जापान के स्कूलों में जो किताबें जारी होती हैं, उनमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध जापानियों के सचित्र जीवन-चरित्र रहते हैं। उनको पढ़ा कर चरित-नायकों के उदाहरणों के द्वारा लड़कों को यह सिखलाया जाता है कि "अच्छा जापानी" होने के लिए कौन कौन से गुण दरकार होते हैं। अच्छे जापानी के कुछ लक्षण सुनिए—अच्छा या आदर्श जापानी वह है जो अपने माता-पिता, भाई-बहन और कुटुम्बियों से सम्बन्ध रखनेवाले सब कर्त्तव्यों का मन लगा कर पालन करता है; जो कभी इस बात को नहीं भूलता कि अपने पूर्वजों को भक्ति-पूर्ण दृष्टि से देखना उसका धर्म्म है; जो मालिक होकर अपने आश्रितों पर कृपा रखता है; जो आश्रित होकर अपने मालिक का हितचिन्तन करता है। आदर्श जापानी अपने ऊपर किये गये एहसान को कभी नहीं भूलता; जो कुछ वह करता है, सचाई के साथ करता है; जिस बात का वह वादा करता है, उसे पूरा करता है; दूसरों के साथ वह हमेशा उदारता का व्यवहार करता है। दया और दाक्षिण्य को अच्छा जापानी कभी नहीं भूलता; जो बात सच है, उसका वह जी-जान से पक्ष लेता है; जो दीन-दुखिया हैं, उनको वह दया-दृष्टि से देखता है; सामाजिक नियमों की वह सबसे अधिक इज्जत करता है; समाज की अधिकाधिक उन्नति के

लिए वह हमेशा यत्नशील रहता है; विदेशियों के साथ भी वह कभी बुरा बर्ताव नहीं करता। आदर्श जापानी अपनी शारीरिक शक्ति को हमेशा बढ़ाता रहता है; लाभदायक विद्या और कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करने में हमेशा तत्पर रहता है; शौर्य्य, सहनशीलता, आत्मनिग्रह, मिताचार, विनीत भाव की वह हमेशा वृद्धि करता रहता है। उसे हमेशा इस बात का ध्यान रहता है कि काम-काज में, व्यापार में, प्रतियोगिता, अर्थात् दूसरों के साथ चढ़ा-ऊपरी करने में, रुपया कमाने में और दूसरों के दिल में अपना विश्वास जमाने में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए। वह अच्छे काम करने की आदत डालता है; वह नेकी करना सीखता है; विद्या पढ़ कर उससे व्यावहारिक लाभ उठाने का वह अभ्यास करता है; और आत्मोन्नति करने की वह नई नई तजवीजें सोचता रहता है। आदर्श जापानी अपने देश का हृदय से आदर करता है और राजभक्ति तथा स्वदेश-प्रीति की वृद्धि करके अच्छे नागरिक होने के फ़र्ज़ को अदा करता है। अच्छा जापानी इसी तरह के व्यवहार से अपनी और अपने कुटुम्ब की उन्नति करता है; और अपने देशवालों ही के लिए नहीं, किन्तु सारे संसार के फायदे के लिए, जो कुछ वह कर सकता है, हमेशा करने के लिए तैयार रहता है।

सदाचार और सुनीति की शिक्षा में जापानी हिन्दुओं से कम नहीं। [फरवरी १९०६.

१०

एक तरुणी का नीलाम

मुश्तरी नाम की एक वेश्या ने, जो कविता भी करती थी, एक बार अपने दिल के विषय में एक पद्य कहा था। जहाँ तक हमें याद है, वह पद्य यह था—

खरीदारो लो चल् के बाजार देखो।
दिले मुश्तरी अब बिका चाहता है॥

इस वार-वनिता ने तो अपना दिल ही बेचना चाहा था; पर अमेरिका की खूब पढ़ी-लिखी एक नौजवान कुमारिका ने अपने सारे शरीर को, मन और प्राण सहित, नीलाम कर देने का इश्तहार दिया है। वह युवती वाशिंगटन की रहनेवाली है। शिकागो में वह टाइप-राइटिंग का काम करती है। मरते दम तक सर्व-श्रेष्ठ 'बोली' बोलनेवाले की दासी होने का विचार उसने किया है। वह अपने को नीलाम करना चाहती है। इसका कारण आप उसी के मुख से सुनिए—

"इस नीलामी नोटिस को पढ़ कर लोगों को आश्चर्य्य होगा। परन्तु आश्चर्य्य करने का कोई कारण नहीं। क्योंकि और तरुणी लड़कियाँ भी तो अपने को बेचकर लोगों की गुलामी करती हैं। हाँ, उनकी गुलामी कुछ कुछ दूसरी तरह की जरूर है।

पर है वह भी पूरी पूरी गुलामी। गुलामी के सिवा और कुछ नहीं। कोई कोई प्रति सप्ताह तनख्वाह पाने के परिवर्तन में, अपने को बेच डालती हैं, कोई कोई पति-प्राप्ति के परिवर्तन में। पति को मालिक बनाकर उसके अधीन रहना क्या गुलामी नहीं? औरों की नौकरी करना क्या गुलामी नहीं? ये बातें सर्व-साधारण के सामने प्रकाश रूप से नहीं होतीं। हर एक नौजवान लड़की चुपचाप गुलामी स्वीकार कर लेती है। यह बात मैं प्रकाश रूप से करना चाहती हूँ। मैं सब लोगों को सूचना देकर अपने को नीलाम करने जाती हूँ। इस तरह नीलाम करने से मुझे आशा है कि मेरी क़ीमत लोग कुछ अधिक लगावेंगे। अतएव खुल्लम-खुल्ला नीलाम करने में हानि ही क्या है?

"मेरा परलोकवासी पिता सरकारी नौकर था। मुझे लिखाने-पढ़ाने और शिक्षा देने में उसने ३०,००० रुपयें खर्च किये। इतनी लागत से मैं जवान होकर नीलाम होने के लायक हुई हूँ। पर यद्यपि मैं जी-जान होम कर "टाइप राइटिङ्ग" का काम करती हूँ, तथापि ३०) हफ़्ते से अधिक मुझे तनख्वाह नहीं मिलती। मेरी तैयारी में जो मूल धन लगाया गया है, उस पर यह ५ फी सदी के हिसाब से भी तो नहीं पड़ता। अब मैं यह जानने के लिए उत्कण्ठित हो रही हूँ कि गुलामों के मालिक अमेरिका-निवासी धनवान् लोग जियादह से जियादह कितनी कीमत देकर गुलाम बनाने के लिए अमेरिका ही की एक तरुण

कुमारी को खरीद कर सकते हैं। मैं जानना चाहती हूँ कि इस तरह की गुलाम कुमारिकाओं का बाजार-भाव क्या है। जब कोई आदमी किसी चीज को खरीद करना चाहता है, तब वह उसके गुणों का वर्णन भी सुनना चाहता है। बहुत अच्छा; जब मैं अपना नीलाम करने पर उतारू हूँ, तब अपना वर्णन भी अपने ही मुँह से क्यों न कर दूँ। सुनिए— .

"मैं तरुण हूँ, समझदार हूँ, पढ़ी-लिखी हूँ, शिष्ट हूँ, व्यवहारज्ञ हूँ, सच बोलती हूँ, विश्वासपात्र हूँ, न्यायनिष्ठ हूँ, काव्य-रसज्ञ हूँ, तत्वज्ञ हूँ, उदार हूँ—सबसे बड़ा गुण मुझ में यह है कि मैं स्त्रीत्व के सर्वोच्च गुणों से विभूषित हूँ। मेरे भूरे नेत्र बड़े बड़े हैं। मेरे ओठों से सरसता टपकती है। मेरे दाँत अनार के दाने हैं। मैं अपने को सुन्दरी तो नहीं कह सकती, पर मेरी शकल-सूरत बहुत ही लुभावनी है। मेरा चरित्र खूब उच्च और दृढ़तापूर्ण है। हाव-भाव भी मुझ में कम नहीं है। दिल मेरा छोटा नहीं, बहुत बड़ा है। कभी कभी मैं बहुत ही विनोदशील हो जाती हूँ! मैं खुश-मिजाज होकर अपनी प्रतिष्ठा का हमेशा खयाल रखती हूँ। पढ़ने-लिखने में मैं खूब दिल लगाती हूँ। मैं धार्म्मिक तो हूँ, परन्तु धर्म्मान्ध नहीं। मैं सीना तो नहीं जानती, पर पहनने के कपड़े बहुत अच्छे काट सकती हूँ; और काटना ही मुशकिल काम है। दुकान में रखे हुए भले-बुरे मांस की मुझे पहचान नहीं; पर खिलाने-पिलाने में मैं बड़ी होशियार हूँ। मिहमानों को खुश करना मैं बहुत अच्छा जानती हूँ।

हिसाब लगाने में मैं कच्ची हूँ; पर अच्छे अच्छे किस्से कहना मुझे खूब आता है।"

यह इस अमेरिकन तरुणी के इश्तहार का कुछ अंश है। इसने अपने इश्तहार में यह भी लिख दिया है कि, कौन सर्व-श्रेष्ठ बोली बोलनेवाला है, इसका फैसला करना सर्वथा मेरे ही हाथ में है। मैं जिसे चाहूँगी, उसी की लगाई हुई कीमत कबूल करके उसके हाथ अपने को बेंच दूँगी। सुनते हैं, बहुत लोगों ने इस कुमारी के साथ शादी करने की इच्छा जाहिर की है। ये सब सभ्यता के चोचले हैं। देखते जाइए, यूरप और अमेरिका के सभ्य समाज में क्या क्या गुल खिलते हैं!

[जून १९०७.

११

गूँगों और बहरों के लिए स्कूल

जो लोग जन्म ही से वज्र बहरे होते हैं, वे गूँगे भी होते हैं। पर उनके गूँगेपन का यह कारण नहीं कि उनके बोलने की इन्द्रिय नहीं है अथवा उसकी शक्ति जाती रही है। नहीं; बोलने की शक्ति प्रायः उन सब में रहती है। पर उन्हें बोलने का अभ्यास नहीं रहता। जब से वे पैदा होते हैं, मनुष्य की वाणी उनके कानों में नहीं जाती; और जाती भी है तो कदाचित् कभी कोई बहुत ऊँची बात। इसी से वे लोग बोलना नहीं जानते। जो वाणी उनकी कर्णेन्द्रिय में कभी गई ही नहीं, उसका अभ्यास और ज्ञान उन्हें कैसे हो सकता है? बहरों की बात जाने दीजिए, यदि सुनने की शक्ति-युक्त कोई बच्चा पैदा होते ही या महीने दो महीने बाद, किसी ऐसी जगह रख दिया जाय जहाँ उसका पालन-पोषण करनेवालों के मुँह से कभी कोई बात न निकले तो, बड़ा होने पर भी, न वह बोल सकेगा, न औरों की बात समझ सकेगा। हाँ, कुछ समय बाद पीछे से चाहे वह भले ही बोलने लगे।

यही बात बहरों की है। उनके कान में मनुष्य की बात न

जाने से उन्हें बोलने का अभ्यास नहीं होता। इससे वे बेचारे जन्म भर बहरे तो रहते ही हैं; बहरेपन के कारण गूँगे भी रहते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए अमेरिका के विद्वानों ने अजीब तरकीबें निकाली हैं। उन्होंने ऐसे स्कूल खोले हैं जिन में विशेष कर के स्त्रियाँ ही अध्यापिका हैं। वहाँ बच्चों को अध्यापिकाओं की जीभों और होठों की तरफ ध्यान दिलाया जाता है। किसी वर्ण या शब्द का उच्चारण करने में अध्यापिकाओं के होंठ जिस तरह खुलते और बन्द होते हैं और जीभ जिस तरह हिलती-डुलती है, बच्चों को भी वैसा ही करने की शिक्षा दी जाती है। 'क' 'ख' 'ग' आदि वर्णों की जगह पर अँगरेज़ी के 'A' 'B' 'C' आदि वर्ण इसी तरह सिखलाये जाते हैं। जो आवाज़ ठीक ठीक बच्चों के मुँह से नहीं निकलती, उसे निकालने के लिए एक सीधा-सादा यन्त्र भी है। जीभ की ठीक ठीक हरकत न होने ही से अपेक्षित आवाज़ नहीं निकलती। पर उस यन्त्र से जीभ को यथास्थान कर देने से वह निकलने लगती है। इसी तरह कुछ दिनों तक वर्णमाला और अङ्क उच्चारण करना सिखलाया जाता है।

यह शिक्षा बड़े बड़े आइनों की सहायता से दी जाती है। बच्चे क्लासों में बँटे रहते हैं। कोई 'क' क्लास में, कोई 'ख' क्लास में, कोई 'ग' क्लास में। एक एक क्लास को अलग अलग शिक्षा दी जाती है। अध्यापिका एक आइने के सामने जाती है और एक बच्चे को अपने साथ लेती है। वहाँ वह 'क' उच्चारण

करती है। उस समय उसके मुँह की जो आकृति होती है, उसे बच्चा आइने में ध्यान से देखता है और उसकी नक़ल करता है। नकल करने में यदि उससे भूल होती है तो अध्यापिका उसे दुरुस्त करती जाती है और आवश्यकता होने पर यन्त्र को जीभ में लगाती है। इस तरह क्रम क्रम से "क" क्लास के सब बच्चों को शिक्षा दी जाती है। जब वे "क" उच्चारण में दक्ष हो जाते हैं, तब "ख" क्लास में चढ़ाये जाते हैं। इसी तरह उनकी तरक्की होती जाती है और वर्णों और अंकों का उच्चारण सिखलाया जाता है।

गूँगे-बहरों के स्कूल में जाने से, सुनते हैं, बड़ा आनन्द आता है। मालूम होता है, कोई तमाशा हो रहा है। अध्यापिका बड़े धीर-गम्भीर भाव से बातें करती है और बच्चे उसकी बातें समझते हैं; और जो कुछ वह कहती है, वही करते हैं। जहाँ जरूरत होती है, वे बोलते भी जाते हैं। उनकी आवाज़ में सिर्फ इतना ही भेद होता है कि वह कुछ फैली सी होती है। इन स्कूलों के शिक्षा-क्रम को देखकर देखनेवालों को बड़ा आश्चर्य्य होता है।

सैंकड़ों तरह के खिलौने इन स्कूलों में जमा रहते हैं। जिन चीजों और जिन जानवरों को हम लोग रोज देखते हैं, खिलौनों के रूप में वे स्कूल में रक्खे रहते हैं। उन से बच्चों को शिक्षा दी जाती है। जब वे वर्णमाला सीख चुकते हैं, तब वस्तु-परिज्ञान कराया जाता है। अध्यापिका कुत्ते के आकार का खिलौना हाथ में लेती है और मुँह से कहती है "कु—त्ता।"

बहरे लड़के-लड़कियाँ उसके मुँह के आकार को देख कर उसकी नक़ल करते और धीरे-धीरे "कुत्ता" कहना सीख जाते हैं। तब उन्हें बोर्ड पर शिक्षा दी जाती है। उन्हें अक्षर लिखना पहले ही सिखलाया जाता है। अर्थात् जैसे जैसे वे मुँह से वर्णोच्चारण करना सीखते जाते हैं, वैसे ही वैसे बोर्ड पर उन्हें वे वे वर्ण लिखना भी सिखला दिया जाता है। वस्तु-परिज्ञान करने में भी उन्हें लिखना सीखना पड़ता है। खिलौने के रूप में जब वे किसी चीज़ को पहचान जाते हैं और उसका नाम उच्चारण करने लगते हैं, तब उस नाम में जो वर्ण होते हैं, वे उनसे बोर्ड पर लिखाये जाते हैं। इस तरह धीरे-धीरे उन्हें प्रायः सभी व्यावहारिक चीज़ों का ज्ञान हो जाता है और उनके नाम भी वे लिख लेने लगते हैं।

इसके बाद वाक्य लिखाने की बारी आती है। छोटे छोटे जुमले लिखना उन्हें सिखलाया जाता है। कल्पना कीजिए, एक रूमाल बच्चे के हाथ में दिया गया। अब तक उसे मालूम हो गया है कि कपड़े के इस तरह के छोटे छोटे टुकड़े "रूमाल" कहलाते हैं। फिर एक और बच्चा बुलाया गया। तब पहले से इशारे से कहा गया कि इस रूमाल को दूसरे बच्चे के हाथ में डाल दो। जब उसने डाल दिया, तब पहले के हाथ से दूसरे के हाथ पर रूमाल जाने की क्रिया का नाम बतलाया गया—"देना"। इसके बाद अध्यापिका ने बतलाया कि इस सारे क्रिया-कलाप का मतलब हुआ—"मैंने रूमाल दिया"। यह

वाक्य बच्चों से बोर्ड पर लिखाया गया और सारी क्लास से वह उच्चारण भी कराया गया और बोर्ड पर लिखाया भी गया।

वाक्य लिखना और उच्चारण करना आ जाने पर नित्य के व्यवहार की और भी बातें उन्हें धीरे-धीरे सिखलाई जाती हैं; और साथ ही साथ व्याकरण का भी बोध कराया जाता है। इस तरह चित्रों से, खिलौनों से, रङ्गों से, क्रियाओं से, बड़ी युक्ति और धीरज के साथ पहले तीन चार वर्ष गूँगे और बहरे लड़कों को बोलना, और साथ ही साथ लिखना-पढ़ना भी, सिखलाया जाता है। पहले-पहल शिक्षा का क्रम बहुत ही सीधा-सादा होता है। ऐसी ही बातें बच्चों को सिखलाई जाती हैं जो हर वक्त उनके देखने में आती हैं। जितने वाक्य उन्हें सिखलाये जाते हैं, सब सरल होते हैं। उन्हें बच्चे लिखना भी सीखते हैं और उच्चारण करना भी। इस तरह चार ही पाँच वर्ष की शिक्षा से वे मतलब भर को बोल भी लेने लगते हैं और दूसरों को बोलते देख उनकी मुखाकृति से उनकी बातों का मतलब भी समझ लेते हैं। वे चुने हुए सैंकड़ों वाक्य लिख भी लेते हैं और सहल सहल किताबें भी पढ़ लेते हैं। जो किताबें गूँगे बच्चों के लिए तैयार की जाती हैं, उनमें उलट-पुलट कर प्रायः वही शब्द और वही वाक्य होते हैं जिन्हें वे पहले याद कर चुकते हैं।

इसके बाद वह समय आता है जब बच्चों को इतिहास, भूगोल, अङ्क-गणित और वैज्ञानिक विषय सिखलाये जाते हैं। इन सब विषयों के सिखलाने की ऐसी अच्छी तरकीबें निकाली

गई हैं कि गूँगे और बहरे लड़के आसानी से उन्हें समझ सकते हैं। बच्चों के बोलने और पढ़ने की तरफ अधिक ध्यान दिया जाता है; क्योंकि इसकी सबसे अधिक ज़रूरत समझी जाती है। इस तरह कुछ समय तक और अभ्यास जारी रहने से लड़के आप ही आप अपने मनोभाव प्रकट कर लेने लगते हैं और दूसरों की बातें समझ लेने में उन्हें कुछ भी कठिनता नहीं होती। जब वे इस अवस्था को पहुँच जाते हैं, तब उनकी शिक्षा सफल समझी जाती है।

गूँगे और बहरे लड़कों को लिखना, पढ़ना और बोलना ही नहीं सिखलाया जाता, किन्तु जीविका-उपार्जन के पेशे भी सिखलाये जाते हैं। लड़कियों को लकड़ी पर नक्काशी के काम करना, चित्र बनाना, सीना-पिरोना और खाना पकाना सिखलाया जाता है। लड़कों को दरजी का काम, बेल-बूटे बनाने का काम, किताबें छापने का काम, तसवीर खींचने का काम—ऐसे ही और भी कितने ही उपयोगी काम सिखलाये जाते हैं।

गूँगे और बहरे लड़कों की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होने पर वे प्रायः उसी तरह लिख, पढ़ और बोल सकते हैं जैसे और आदमी। उनकी और साधारण आदमियों की बोली में बहुत ही कम अन्तर मालूम होता है। इस तरह शिक्षा-प्राप्त लड़के ऊँचे दरजे के स्कूलों और कालेजों में भरती होकर उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षा-समाप्ति के बाद वे बड़े बड़े काम करते हैं। समाज में उनका बड़ा आदर होता है।

देखिए, प्रकृति जिन बातों से गूँगों और बहरों को वञ्चित करना चाहती है, उन्हीं को मनुष्य अपनी विद्या, बुद्धि और मिहनत से उन्हें प्राप्त करा देता है।

[सितम्बर १९०७.

१२

लोभ

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इसलिए जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं, तो वह वृथा अहङ्कारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते। परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सब से अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है; क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आज-कल के समय के अनुकूल नहीं। योरप और अमेरिका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व—समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय, परन्तु भारतवर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है।

जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय, अतएव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं। क्योंकि साधारण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के लिए जो धन काम आता है, वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार खाने ही पीने की आवश्यकताओं को दूर करने के लिए धन की चाह होती है। दूसरों को दिखलाने अथवा उसे स्वयं देखने के लिए धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं। कोई जगत्-सेठ ही क्यों न हो, यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा, तो उसे उस विद्या को उसी तरह सीखना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन—महा-कङ्गाल—को सीखना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने में उसकी धनाढ्यता ज़रा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सकता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति, शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते हैं? कभी नहीं।

जिसके पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने आपको, अर्थात् यों कहिए कि अपनी आत्मा को, अपने वश में नहीं रख सकता। क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रति-दिन बढ़ाने का यत्न करता है।

अतएव वह धन किस काम का जो लोभ को बढ़ाता जाय? भूख लगने पर भोजन कर लेने से तृप्ति हो जाती है। प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है। परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी अधिक लोभ बढ़ता है। इसी लिए धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाड़े से बचने के लिए एक लिहाफ बस होता है। यदि किसी के ऊपर आठ दस लिहाफ डाल दिये जायँ तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम होता। इसी लिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जिसे धनाढ्यता रोग हो जाता है, वह भी कभी तृप्त नहीं होता। तृप्ति का न होना, अर्थात् आवश्यकताओं का बढ़ जाना ही, दुःख का कारण है। और जहाँ दुःख है, वहाँ सुख रही नहीं सकता। उन दोनों में परस्पर वैर है। अतएव उसी को धनी समझना चाहिए जिसकी आवश्यकतायें कम हैं; क्योंकि वह थोड़े ही में तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है; और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है; लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते खाते सन्तुष्ट नहीं होता, उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके लिए वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक खिलाने की अपेक्षा उनके खाये हुए पदार्थों को, वमन कराके बाहर निकाल-

ना पड़ता है। क्योंकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रति-दिन अधिक अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है। अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता; किसी न किसी वस्तु की सदैव कमी ही बनी रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय, तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है; परन्तु है बड़ी सख़्त बीमारी। सख़्त इसलिए है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है; भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उलटा है। उसे द्रव्य की भूख रहती है; परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम में नहीं लाता; रख छोड़ता है; और अधिक धन पाने के लिए दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिसमें उसे किसी समय उसकी कमी न पड़े। परन्तु उसे उसकी कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है; परन्तु पीछे से वह यथार्थ–असली–हो जाती

है; क्योंकि घर में धन होने पर भी वह उसे काम में नहीं ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोष का सुख ख़ाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ से मूल धन व्यर्थ बढ़ता है, और उसका उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिए, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ जाने ही के लिए होता है। ऐसे धन से क्या लाभ? ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार भर में जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभी का धन उसके काम तो आता नहीं; इसलिए उसे दूसरे का धन, मन ही मन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उससे उलटा लाभ है; क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को ख़ज़ाने के सन्तरी समझना चाहिए। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिए छोड़ जाते हैं।

कोई कोई लोभी, अपने पीछे, अपने लड़कों के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया, उसके बिना उनके लड़कों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगा कर खुद भी बद-नाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं

आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्तिवाले से हम अधिक सम्पत्तिवाले ही को दरिद्री कहेंगे। क्योंकि जिसे ५ रुपये की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपये की आवश्यकतावाला है। कहाँ ५ और कहाँ ५००! सधनता और निर्धनता मन की बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् हैं। क्योंकि उदारता के कारण उनका धन किसी के काम तो आता है—चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत धन होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना न होना दोनों बराबर हैं। शेख सादी ने बहुत ठीक कहा है—

तवङ्गरी बदिलस्त न बमाल।

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

[अप्रैल १९०८.

१३

चीन के विश्व-विद्यालयों की परीक्षा-प्रणाली

चीन संसार में सब से अधिक आबाद देश है। पर वह शिक्षा में बहुत पीछे है। यद्यपि वहाँ शिक्षित लोगों की बड़ी क़द्र है, तथापि उनकी जीविका का मैदान बहुत तंग है। यदि उन्हें सरकारी नौकरी न मिली तो वे अध्यापकी या मुहर्रिरी करके जैसे-तैसे अपने दिन बिताते हैं। विशेष कर उन चीनी शिक्षितों की मिट्टी और भी ख़राब होती है जो किसी कारण से पदवी (Degree) नहीं प्राप्त कर सकते। वे छोटी छोटी देहाती पाठशालाओं में, जिनमें पचीस तीस से अधिक लड़के नहीं होते, सात आठ रुपये मासिक पर अपना जीवन बड़े कष्ट से बिताते हैं। वे बार बार परीक्षाओं में शामिल होते हैं और इस आशा पर जमे रहते हैं कि जब हम कृतकार्य होंगे, तब हमारा भाग्य अवश्य ही जगेगा। ऊँची ऊँची परीक्षाओं के हज़ारों उम्मेदवारों में से अधिकांश चालीस पचास वर्ष की उम्रवाले होते हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके बाल बिलकुल सफेद हो गये हैं और जो अपने नाती-पोतों के साथ बैठकर काँपते हुए हाथ से इस आशा से निबन्ध लिखते हैं कि शायद बुढ़ापे ही में धन और यश मिलना बदा हो। पर दुर्भाग्य से हज़ारों में सिर्फ चालीस पचास ही पास होते हैं।

प्रति वर्ष अधिकांश उम्मेदवारों के फेल हो जाने का कारण यह है कि चीनी परीक्षाओं की प्रणाली इतनी दोष-पूर्ण है कि परीक्षोत्तीर्ण होना बड़ा दुस्साध्य कार्य है। वह इतनी अद्भुत और जटिल होती है कि विदेशियों के लिए उसका समझना अत्यन्त ही कठिन है। इस तरह की परीक्षा संसार में शायद ही और कहीं होती हो। सब से पहली अर्थात् नीचे दर्जे की परीक्षा साल में एक दफे होती है। इसे प्रत्येक जिले का शासनकर्त्ता लेता है। उसका काम यह है कि वह सब से ख़राब उम्मेदवारों को अलग कर दे और बंचे हुए उम्मेदवारों को, जिनकी योग्यता काफी समझे, अपने से ऊँचे अधिकारी के पास भेज दे। जो उम्मेदवार इस हाकिम की भी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये, उनकी परीक्षा शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के द्वारा ली जाती है। यही अधिकारी उन्हें "Hsiu Tsai" की पदवी देता है। यह अफसर किसी प्रान्तिक शासन-कर्त्ता के अधीन नहीं होता। वह सीधे सम्राट् से पत्र-व्यवहार कर सकता है। वही उसको नियुक्त करते हैं। वह तीन वर्ष के लिए नियत किया जाता है। उसका प्रभुत्व किसी गवर्नर से कम नहीं होता।

इस तरह अयोग्य विद्यार्थियों की छटनी होते होते जो सबसे अच्छे विद्यार्थी बच रहते हैं, वही परीक्षा दे सकते हैं। प्रत्येक परीक्षा में दो निबन्ध और कुछ पद्य लिखाये जाते हैं। निबन्धों में चीनी प्राचीन ग्रन्थों के अवतरणों की भरमार होनी

चाहिए। विद्यार्थियों को कोई नई बात सोचने के लिए अपने मस्तिष्क पर जोर नहीं देना पड़ता। हजारों वर्ष की पुरानी बातें, तोते की तरह रट कर, वे छुट्टी पा जाते हैं। जो कुछ उनमें लिखा हुआ है, उसी को सहस्रशः विद्यार्थी प्रति वर्ष आँख बन्द करके लिखते चले जाते हैं। चीन की प्राचीन प्रथा है कि एक नियत संख्या से अधिक परीक्षार्थी किसी परीक्षा में पास नहीं किये जाते, चाहे उम्मेदवारों की तादाद कितनी ही अधिक क्यों न हो। योग्यता जाँचने का साधन भी बड़ा विचित्र है। वह यह है कि उम्मेदवार नियत संख्या के अन्य उम्मेदवारों से अधिक योग्य हों। कभी कभी इस प्रथा से घोर अन्याय हो जाता है। शान्टुंग, चेकियांग, केन्टन आदि प्रान्तों में हजारों विद्यार्थी परीक्षा में शरीक होते हैं। यदि पास किये जानेवालों की संख्या केवल तीस हुई तो सिर्फ इतने ही पास किये जायँगे। शेष अपना सा मुँह लेकर अपने घर लौट जायँगे। इसके विरुद्ध शान्सी, शेन्सी, कान्सू आदि प्रान्तों में बहुत ही थोड़े अर्थात् तीस चालीस परीक्षार्थी होते हैं। उनमें से प्रायः सभी पास कर दिये जाते हैं। फल यह होता है कि एक जगह अत्यन्त अयोग्य उम्मेदवार पास हो जाता है और दूसरी जगह उससे कहीं अधिक योग्य परीक्षार्थी फेल हो जाता है। सुनते हैं, किसी किसी जिले में शासनकर्त्ता गली गली घूम कर नियत संख्या के उम्मेदवारों को इकट्ठा करता है। "Hsiu Tsai" पदवी-धारी लोग लाल झब्बेदार टोपी पहनते हैं जिसमें सुनह-

ला बटन लगा रहता है। यह बटन प्रकट करता है कि यह कोई सरकारी कर्म्मचारी है।

दूसरी परीक्षा जिसे "Chuken" कहते हैं, तीन वर्ष में एक दफे, केवल प्रान्तिक राजधानियों में, होती है। इस परीक्षा के लिए चीन की राजधानी पेकिन से विशेष परीक्षक आते हैं। जिस स्थान पर परीक्षा होती है, वह देखने योग्य होता है। प्रत्येक उम्मेदवार एक छोटी सी झोंपड़ी में ठहराया जाता है। वहाँ वह एक तख़्ते पर उकड़ूँ बैठकर अपने निबन्ध लिखता है। उसके सामने एक विचित्र प्रकार की छोटी सी मेज़ भी रहती है। ये झोपड़ियाँ एक लम्बी कतार में बनी होती हैं और संख्या में आठ हजार के लगभग होती हैं। वे इतनी गन्दी रहती हैं कि उनमें एक दिन भी ठहरना मुशकिल है। पर बेचारे पदवी-लोभियों को उसी नरक-तुल्य स्थान में पूरे तीन दिन रहना और वहीं अपने निबन्ध लिखना पड़ता है। फिर एक दिन की छुट्टी मिलती है। इसके बाद तीन दिन और इस काल-कोठरी में उन्हें बिताने पड़ते हैं। उस मैदान में स्थान स्थान पर बुर्ज बने होते हैं। परीक्षक लोग उन्हीं बुर्जों में बैठ कर दिन-रात, चौबीसों घण्टे, उनकी निगरानी करते हैं। परीक्षा की इस अद्भुत प्रणाली के कारण उम्मेदवारों को बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। पर साथ ही साथ उन्हें धोखेबाज़ी करने का अवसर भी हाथ आता है। कितने ही परीक्षा देनेवाले किताबों के ढेर के ढेर टोकरियों में रक्खे हुए, बैठे नकल किया

करते हैं। जहाँ आठ आठ हजार आदमी एक साथ परीक्षा देते हों, वहाँ अपने बदले किसी योग्यतर बाहरी आदमी से परीक्षा दिलवा देना और खुद पदवी के अधिकारी बनना कौन सी बड़ी बात है? ऐसी चालबाजियाँ अकसर हुआ करती हैं। उम्मेदवारों के इस टिड्डी-दल में से सिर्फ सत्तर आदमी पास किये जाते हैं। परीक्षा की सख्ती की हद हो गई!

तीसरी और सब से ऊँची परीक्षा "Gim Shih" की है। यह केवल चीन की राजधानी पेकिन में होती है। "Chuken" पदवी-धारी सब प्रान्तों से इसमें शरीक होते हैं। इसका ढंग ठीक वैसा ही होता है जैसा कि दूसरी परीक्षा का। इसमें भी बहुत थोड़े आदमी पास होते हैं। उत्तीर्ण छात्रों के दो विभाग किये जाते हैं। दूसरी श्रेणीवाले यदि सरकारी नौकरी करना चाहें, तो जिले के शासनकर्त्ता (Magistrate) बनाये जाते हैं। यदि वे दुर्भाग्य से किसी दूरवर्त्ती या उजाड़ प्रान्त में नियत किये गये तो रिशवत के बल से अच्छे प्रान्त की बदली करा सकते हैं। प्रथम श्रेणी के मनुष्य "Hanlin" पदवी के लिए परीक्षा देते हैं। इस पदवी के लिए लिपि-सौन्दर्य्य और अत्युत्कृष्ट लेख-प्रणाली की बड़ी आवश्यकता है। इस परीक्षा में जो प्रथम होता है, उसको "Chuang Yuan" की अत्यन्त सम्मानास्पद उपाधि मिलती है। वह अपने प्रान्त में एक महान् पुरुष समझा जाने लगता है। अधिकांश "Hanlin" पदवी-धारी लोग चीनी

गवर्नमेंट के शाही दफ़्तरों में काम करने लगते हैं। फिर वे या तो शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी या "Chuken" परीक्षा के परीक्षक बनाये जाते हैं। इसके बाद उन्हें कोई ऊँचे दर्जे की सरकारी जगह मिल जाती है।

इस तरह चीन में हजारों वर्षों से परीक्षायें होती चली आ रही हैं। राज-कर्म्मचारियों के चुनाव की प्रणाली भी पूर्व-वत् ही बनी है। जब तक विदेशियों के क़दम-शरीफ़ चीन में नहीं पहुँचे थे, तब तक सब काम सन्तोषजनक रीति से होता रहा। पर जब से राज्य-लोलुप पश्चिमी जातियों ने चीन को दबाना शुरू किया है, तब से कुछ दूरदर्शी चीनी विद्वानों की आँखें खुल गई हैं। वे समझने लगे हैं कि ज़माने के साथ साथ चले बिना इस संसार में अपना नाम बनाये रखना बहुत मुश-किल है। शिक्षा और परीक्षा की लगी हुई पद्धति को छोड़ कर जब तक हम लोग पश्चिमी रीति-नीति से लौकिक शिक्षा का प्रचार न करेंगे, तब तक उन्नति करना तो दूर रहा, उलटे विदे-शियों की ठोकरें खाते खाते एक दिन चीनी जाति विधर्मियों के पराधीनता-पाश में अवश्य बँध जायगी। यद्यपि चीन के इन दूरदर्शी सुपुत्रों की चेष्टा अभी तक पूर्ण रूप से सफल नहीं हुई, तथापि उसके शुभ परिणाम के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। आशा है कि वह एक न एक दिन अवश्य सफल होगी।

[सितम्बर १९०८.

१४

अमेरिका के गाँव

जिस तरह भारतवर्ष अत्यन्त दरिद्र है, उसी तरह अमेरिका अत्यन्त धनवान् है। यह बात दोनों देशों के गाँवों की तुलना करने से अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। हमारे देश के गाँव दरिद्रता और मूर्खता के केन्द्र-स्थान हैं। अकेला गँवार शब्द ही इस बात का साक्षी है। गाँवों के घर निरी मिट्टी के झोंपड़े होते हैं। रहने का घर, चौपायों का घर, कूड़ा-घर आदि सब एक ही जगह होते हैं। एक ही तालाब में गाँव भर के लोग नहाते, कपड़े धोते, पशुओं को पानी पिलाते और कभी कभी स्वयं उसका पानी पीते हैं। इसके सिवा वे लोग आधे नंगे, आधे भूखे रह कर अपना जीवन बिताते हैं। उनके लिये "काला अक्षर भैंस बराबर" है। दीन-दुनियाँ की उन्हें कुछ खबर नहीं। सभ्य संसार को ऐशो-आराम की चीज़ें उन्हें स्वप्न में भी नसीब नहीं। मतलब यह कि यदि गाँवों के झोंपड़ों के अधिवासियों को दरिद्रता और अविद्या का मूर्तिमान अवतार कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं।

परन्तु अमेरिका की दशा यहाँ से ठीक उलटी है। वहाँ

के गाँव हमारे देश के अधिकांश शहरों से अधिक अच्छी हालत में हैं। कुछ दिन हुए, सन्त निहालसिंह का लिखा हुआ एक लेख इस विषय पर माडर्न रिव्यू में निकला था। उसमें उन्होंने उदाहरण-स्वरूप अमेरिका के एक गाँव का वर्णन किया है। सिंह जी के उस लेख से हमारे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। इसलिए उसकी मुख्य-मुख्य बातें हम यहाँ पर लिखते हैं। इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि अमेरिका कितना उन्नत, सभ्य और सम्पत्ति-शाली देश है।

निहालसिंह महाशय ने जिस गाँव का वृत्तान्त लिखा है, उसका नाम केम्ब्रिज है। वह अमेरिका की इलीनाई (Illinois) रियासत में है। जहाँ पर यह गाँव बसा हुआ है, साठ वर्ष पहले वहाँ जंगली जानवर रहते थे; मनुष्य या वृक्ष का मीलों तक पता न था। परन्तु इस समय वहाँ जंगली जानवरों का नामोनिशान तक नहीं। एक सुन्दर छोटा सा गाँव बस गया है। उसका रक़बा कोई एक वर्ग मील होगा और सब मिला कर कोई चौदह सौ मनुष्य उसमें रहते हैं।

परन्तु इतना छोटा गाँव होने पर भी केम्ब्रिज उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया है। उसके प्रायः सभी घर पक्के, दो-मंजिले हैं, और क़रीने से बने हुए हैं। रेलवे स्टेशन, तार-घर, डाकख़ाना, स्कूल, अस्पताल आदि उसमें सब कुछ है। गाँव भर में रात को बिजली की रोशनी होती है। जगह जगह टेलीफोन लगे हुए हैं। प्रत्येक चौराहे और मकान में गहरे

कूएँ और पम्प बने हुए हैं। उनका निर्म्मल और रासायनिक क्रिया से साफ़ किया हुआ जल अत्यन्त स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-कर है। गाँव भर में ऐसी कोई सड़क नहीं जिस पर पत्थर न जड़े हों। सड़कों की तो बात ही क्या है, गलियों तक में ईंटें लगी हुई हैं और उन पर सीमेंट बिछा हुआ है, जिससे वे बारहो मास पक्की गच सी बनी रहती हैं। बरसात तक में कीचड़ के दर्शन नहीं होते।

यह हम लिख चुके हैं कि केम्ब्रिज में रेलवे स्टेशन, तार-घर, डाकखाना, स्कूल और अस्पताल आदि सब कुछ हैं। इनके सिवा वहाँ आग बुझानेवाली टोली और एक कचहरी भी है। बिजली की रेल चलने का भी प्रबन्ध हो रहा है। डाकखाना दिन में चार दफे डाक बाँटता है। गाँववाले साल भर में कोई पन्द्रह हज़ार रुपये के डाक-टिकट ख़रीदते हैं। डाकख़ाने में एक पोस्ट मास्टर, एक सहकारी पोस्ट-मास्टर, एक क्लर्क और पाँच चिट्ठी-रसाँ हैं। जो किसान गाँव से कई मील दूर खलिहानों में रहते हैं, उन्हें चिट्ठी लेने या देने के लिए गाँव में नहीं आना पड़ता। चिट्ठी-रसाँ लोग खुद जाकर डाक दे आते हैं; और ले भी आते हैं। इससे किसानों को बड़ा सुभीता रहता है; उनके काम में विघ्न नहीं पड़ता।

केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी है। उसमें कई हज़ार किताबें हैं। इससे सर्व-साधारण को बड़ा लाभ होता है। जिसका जी चाहता है, इन ग्रंथों से मुफ्त फायदा

उठाता है। इसके सिवा गाँव में एक गायनशाला, तमाशाघर और नाट्यशाला भी है। उनमें क्रम से नित्य गाना-बजाना, चलती-फिरती तसवीरों के तमाशे और थियेटर हुआ करते हैं। वहाँ ईसाई धर्म्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के पाँच गिरजे भी हैं। उनमें हर इतवार को अच्छी धूम रहती है। गाँव-वालों की एक बैंड कम्पनी भी है। उसकी मुखिया एक स्त्री है।

केम्ब्रिज गाँव में छः वकील और सात डाक्टर हैं। उनमें से दो स्त्री-डाक्टर हैं। दो दन्त-चिकित्सक और एक पशु-चिकित्सक हैं। तीन बैंक हैं। चार भोजनशालाओं और चार पानशालाओं के सिवा एक नानबाई की, एक कल से कपड़े धोने की, तीन हजामत बनाने की, दो शौक़ के सामान की, तीन मामूली असबाब की, एक जूतों की, तीन बज़ाज़ी की, दो कागज़ की, चार बरतनों की, तीन पंसारियों की, दो दर-ज़ियों की और छः पोशाक बनानेवालों की दूकानें हैं। सिलाई का एक स्कूल भी है। उसमें नौ-जवान स्त्रियाँ कपड़े सीना सीखती हैं। पूरी दो बाज़ारें गोश्तवालों की हैं। उनमें से एक-एक बाज़ार में कई-कई दूकानें हैं। इनके सिवा गाँव में तीन लोहार, तीस बढ़ई, तीन ठेकेदार, दो पैमाइश करनेवाले और दस चित्रकार हैं। घोड़ों की दो, और मोटर गाड़ियों की एक दूकान है। वहाँ घोड़े और गाड़ियाँ किराये पर भी मिलती हैं। दो यन्त्र-शालायें भी हैं, जहाँ से किसान लोग अपने लिए औज़ार खरीदते हैं। पाठकों को यह सुनकर शायद आश्चर्य्य

होगा कि इतने छोटे गाँव से तीन साप्ताहिक समाचारपत्र भी निकलते हैं। उनमें से हर एक के पास कई प्रेस हैं। उनमें बढ़िया से बढ़िया और बारीक से बारीक काम छप सकता है। फोटोग्राफर की भी एक दूकान है। ये सब दूकानें खूब चलती हैं और सबेरे से लेकर आधी रात तक इनमें भीड़ लगी रहती है। इन शोभा-सम्पन्न दूकानों के सिवा प्रत्येक सड़क और गली के दोनों तरफ लगे हुए मनोहर फूल इस गाँव की सुन्दरता को और भी बढ़ाते हैं। सुनते हैं कि एक सार्वजनिक पार्क भी बन रहा है।

केम्ब्रिज के निवासी बड़े उन्नतिशील हैं। वे अपनी वर्त्तमान अवस्था से कभी सन्तुष्ट नहीं रहते। दिन-रात उन्नति की धुन में लगे रहते हैं। वे अपने घरों को वर्त्तमान सभ्य संसार की प्रत्येक आवश्यक और आराम देनेवाली चीज़ से पूर्ण रखते हैं। सन्त निहालसिंह, जो केम्ब्रिज में कई महीने रहे हैं, कहते हैं—"केम्ब्रिज के निवासी की एक मामूली पशुशाला हिन्दुस्तान की किसी सार्वजनिक इमारत (Public Building) से भी अधिक अच्छी हालत में है।" केम्ब्रिज की पशु-शालाओं में (अर्थात् जहाँ घोड़े और गायें बँधती हैं) बिजली की रोशनी होती है। गायें ग्लोब चढ़े हुए क़ीमती लेम्पों की रोशनी में दुही जाती हैं।

केम्ब्रिज के स्कूल की इमारत बड़ी ही भव्य और विशाल है। यह एक सौ सत्ताइस फीट लम्बी और छिहत्तर फुट

चौड़ी है। इमारत खूब ऊँची कुरसी पर बनाई गई है और तिमंजिला है। उसमें हवा आने जाने, गरमी पहुँचाने और सफ़ाई रखने का बड़ा अच्छा प्रबन्ध है। ये सब काम नवाविष्कृत यन्त्रों के द्वारा होते हैं। उसमें एक ऐसा भी यन्त्र लगा हुआ है जिससे रोगोत्पादक कीड़े वहाँ पैदा ही नहीं हो सकते।

प्रत्येक मंजिल में कई कमरे हैं। प्रत्येक कमरा एक-एक काम के लिए है। कोई पढ़ाई के लिए है; कोई व्यावहारिक शिक्षा के लिए; किसी में शिक्षक रहते हैं; किसी में विद्यार्थी; कोई शिक्षकों के बैठने के लिए है; कोई विद्यार्थियों के खेलने और व्यायाम करने के लिए; किसी में दफ़्तर है; किसी में पुस्तकालय; कोई कमरा सभा करने के लिए है; कोई कविता पढ़ने के लिए। इसी तरह किसी में असबाब रहता है; किसी में यन्त्र और यंजिन। मतलब यह कि सब चीजों के लिए स्थान नियत हैं।

स्कूल से सम्बन्ध रखनेवाला वैज्ञानिक परीक्षागार नवीन यन्त्रों से पूर्ण है। वैज्ञानिक शिक्षागृह में न मालूम कितने जीवित पक्षी हैं। हर एक कमरे में टेलीफ़ोन लगा हुआ है। पढ़ाई के कमरों को छोड़ कर बाक़ी सारी इमारत में कोई एक सौ साठ जगह बिजली की रोशनी होती है। टाइम टेबुल का काम घड़ियों से लिया जाता है। ज्योंही एक विषय पढ़ाने का समय समाप्त होता है, त्योंही घड़ी घण्टी बजा देती है। इमारत

के प्रत्येक कमरे में आवश्यकीय और सजावट का कितना सामान है, यदि इसका संक्षिप्त वर्णन भी किया जाय तो भी लेख बहुत बढ़ जायगा, इसलिए इस विषय में केवल इतना ही कहना काफी है कि हिन्दुस्तान के बड़े से बड़े कालेज को जो सामान नसीब नहीं, वह सब अमेरिका के छोटे से गाँव केम्ब्रिज के स्कूल में विद्यमान है।

स्कूल में सब मिला कर एक सौ सत्रह लड़के और एक सौ अड़तीस लड़कियाँ हैं। उन्हें पढ़ाने के लिए स्कूल में बारह शिक्षक नियत हैं। उनके सिवा दो शिक्षक और भी हैं; एक गाना सिखाने और दूसरा ड्राइङ्ग सिखाने के लिए। चौदह सौ की बस्ती के गाँव में इतने लड़के लड़कियाँ इसलिए पढ़ती हैं कि वहाँ जबरदस्ती शिक्षा का नियम है। अर्थात् रियासत भर में सात से सोलह वर्ष की उम्र तक का प्रत्येक लड़का और लड़की स्कूल जाने के लिए बाध्य है। जो माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ने नहीं भेजते, उन्हें गवर्नमेंट दण्ड देती है।

स्कूल से कुछ दूर पर "क्रानिकल" नामक समाचारपत्र का दफ्तर है। केम्ब्रिज से निकलनेवाले अखबारों में यह मुख्य है। यह साप्ताहिक पत्र है और कोई पचास वर्ष से निकलता है। इसके पास तीन प्रेस हैं, जो स्टीम-इंजिन के द्वारा चलते हैं। इस पत्र के प्रत्येक अङ्क में आठ पृष्ठ रहते हैं। इनमें से चार छपे-छपाये एक सभा से सादे काग़ज़ के मूल्य पर खरीद लिये जाते हैं। इनमें देश-विदेश की ख़बरों के

सिवा राजनैतिक गपशप भी रहती है। व्यापारी, किसान, अहीर और दरज़ियों के काम के लेख और समाचार भी इनमें रहते हैं। उपन्यास, आख्यायिका और यात्रा-वृत्तान्त भी प्रत्येक अंक में रहता है। इस पत्र की बिक्री खूब होती है।

अमेरिका के गाँवों के मकान बड़े ही साफ़ और करीने से सजे हुए होते हैं। इस बात को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए सन्त निहालसिंह ने केम्ब्रिज के उस मकान का वृत्तान्त लिखा है जिसमें वे कुछ दिन रहे थे। उनके कथन का सारा मर्म्म यह है।

यह घर दो-मंजिला बना हुआ है। पहली मंज़िल के बीच का कमरा सुन्दर चित्रों से सजा हुआ है। उसके एक कोने में पियानो रक्खा है और दूसरे में लिखने का डेस्क। फर्श पालिश की हुई लकड़ी का है, जिस पर वेल-बूटेदार गालीचा बिछा हुआ है। नियत स्थान पर झूले और कुरसियाँ रक्खी हुई हैं। उससे मिला हुआ मुलाक़ात का कमरा है। उसमें दो तीन आराम-कुरसियाँ हैं, एक मेज़ और एक आलमारी भी है। मेज़ पर कुछ मासिक पुस्तकें और ग्रन्थ रक्खे हुए हैं और आलमारी सुन्दर जिल्द बँधी हुई किताबों से पूर्ण है। उसके आगे भोजनशाला, पाकशाला और धोबी-घर है। पाकशाला में तीन चूल्हे हैं। इससे तीन चीज़ें एक ही साथ पक सकती हैं। ये तीनों गैस के द्वारा जलते हैं। इस कमरे में कई मेज़ें और आलमारियाँ हैं, जिनमें खाने की चीज़ें, बरतन

और अन्य सामान रक्खे जाते हैं। धोबी-घर में धोने की एक मैशीन है। वह जल-शक्ति के द्वारा चलती है। उसमें बड़ी आसानी से कपड़े धोये जा सकते हैं और इतने साफ़ होते हैं, मानों क़िसी धोबी के धोये हुए हैं। इसलिए केम्ब्रिज-निवासी अपने कपड़े अपने ही घर में धो लेते हैं। इस धोबी-घर में मैशीन के सिवा और भी कितने ही यन्त्र हैं, जिनसे कपड़े धोने से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य काम लिये जाते हैं। इस घर की एक आलमारी में कुछ रासायनिक पदार्थ रक्खे रहते हैं। ये कपड़ों के दाग़ आदि छुड़ाने के काम में आते हैं। दूसरे खण्ड में शयनकक्ष, स्नानागार और सिलाई-घर हैं। ये कमरे भी खूब सुसज्जित और नाना प्रकार की आवश्यक चीज़ों से पूर्ण हैं।

[अगस्त १९०१.

१५

पानी के भीतर चलनेवाले धूम्रपोत

युद्ध के लिए पश्चिमी देशों की तैयारियों का वर्णन पढ़ते समय "सब-मरीन" नाम के धूम्रपोतों का जगह जगह पर उल्लेख मिलता है। ये धूम्रपोत पानी के ऊपर ही नहीं, भीतर भी चलते हैं। यों तो और धूम्रपोतों की तरह ये सदा समुद्र के ऊपर ही रहते हैं; परन्तु आवश्यकता होने पर, पानी के भीतर इन्हें डुबो कर, बिना किसी की नज़र पड़े, नीचे ही नीचे, जहाँ इच्छा होती है, ले जाते हैं।

बीच में ये मोटे होते हैं। बीच की मुटाई दोनों तरफ को धीरे धीरे कम होती जाती है। अन्त को दोनों छोरों पर बहुत ही कम हो जाती है। ये सौ डेढ़ सौ फीट लम्बे होते हैं! वजन इनका तीन हजार से ले कर पाँच हजार मन तक होता है। इनके ऊपर सब तरफ लोहे की मोटी चादर जड़ी रहती है। ये पोत सब तरफ से बन्द रहते हैं। केवल बीच में एक द्वार रहता है; उसी से आदमी भीतर बाहर जाते आते हैं। जब इन पोतों को पानी के भीतर डुबकी लगाने की ज़रूरत पड़ती है, तब यह दरवाज़ा भी बन्द कर दिया जाता है। वह इतना

पक्का बैठ जाता है कि पानी का एक बूँद भी भीतर नहीं जा सकता।

पानी के भीतर ले जाने के पहले इन धूम्रपोतों का वज़न अधिक करने की ज़रूरत पड़ती है। बिना उनका भारीपन अधिक हुए वे पानी के भीतर नहीं ठहर सकते। इस कारण इनके भीतर एक खास जगह में कुछ छेद रक्खे जाते हैं। वे बन्द रहते हैं। ज़रूरत पड़ते ही वे सब खोल दिये जाते हैं। उनकी राह से समुद्र का पानी भीतर आ जाता है और जहाज का वज़न बढ़ जाता है। यह पानी लोहे के बड़े बड़े पीपों में भरता है, जो इसी काम के लिए रहते हैं। इसके सिवा और भी कुछ ऐसा प्रबन्ध रहता है जिससे ये पोत नीचे को और भी अधिक गहरे पानी में पहुँचाये जा सकते हैं; अथवा आवश्यकता होने पर ऊपर उठाये जा सकते हैं।

जैसे एंजिन मोटर-गाड़ियों में लगते हैं, वैसे ही इनमें भी लगते हैं। इनमें भी पेट्रोलियम नाम का तेल जलाया जाता है। उसी से वे चलते हैं। पानी काटने के लिए मामूली अग्नि-बोटों में जैसे पंखे रहते हैं, वैसे ही इनमें भी पीछे की ओर रहते हैं।

पाठकों को यह सन्देह हो सकता है कि यदि ये पोत सब तरफ से बन्द रहते हैं तो पानी के भीतर आदमी, बिना हवा के, जी कैसे सकता है? परन्तु अर्वाचीन विज्ञान ने इस तरह की विघ्न-बाधाओं को दूर कर दिया है। प्रत्येक धूम्रपोत में कोई

बारह आदमी रहते हैं। उनके श्वासोच्छ्वास के लिए निर्मल वायु दरकार होती है। ऐसी वायु बड़े बड़े पात्रों में खूब दबाकर भरी जाती है। वे पात्र पोत के भीतर एक स्थान-विशेष में रक्खे रहते हैं। उन्हीं से थोड़ी थोड़ी वायु बाहर निकला करती है। वही श्वासोच्छ्वास के काम आती है। जो वायु श्वास से खराब हो जाती है, उसे पम्पों में भर कर बाहर समुद्र के पानी में निकाल देते हैं। यह व्यवस्था बड़ी चतुरता और खूब समझ बूझ कर की जाती है। तथापि ऐसी बन्द जगह में रहने की आदत डालने के लिए खलासियों को बहुत दिन तक वहाँ रहना पड़ता है।

पानी के भीतर चलनेवाले इन धूम्रपोतों का मुख्य काम यह होता है कि लड़ाई के समय शत्रु के लड़ाकू जहाज़ों पर टारपीडो नामक एक भयङ्कर नौका की टक्कर मार कर ये उन्हें उड़ा देते हैं। अच्छा, तो ये धूम्रपोत लड़ाई के समय पानी के भीतर चलते हैं और लड़ाकू जहाज़ पानी के ऊपर। फिर इन को यह कैसे मालूम हो जाता है कि शत्रु का जहाज कहाँ पर है? इसके लिए एक बड़ी ही विलक्षण युक्ति निकाली गई है। वह युक्ति पेरिओस्कोप नामक एक यंत्र का आविष्कार है। धूम्रपोत की पीठ पर एक लम्बी नली रहती है। वह खड़ी लगी रहती है। उसके ऊपर एक काँच रहता है। पानी के भीतर धूम्रपोत के चले जाने पर भी इस नली का अग्र भाग पानी के ऊपर निकला रहता है। आस-पास के पदार्थ-समुदाय के

ऊपर से आनेवाले प्रकाश-किरण इस नली के अग्र भागवाले काँच पर प्रतिफलित हो कर नली की राह से पोत के भीतर चले जाते हैं। वहाँ कागज़ का एक तख्ता फैला रहता है। उस पर समुद्र-तल के आसमंतद्भाग का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे यह साफ मालूम हो जाता है कि जिस जहाज़ पर टार-पीडो मारना है, वह कहाँ पर है। यह पेरिओस्कोप मानों इस धूम्रपोत की आँख है। टारपीडो मारने का काम भी दबा कर रखी गई हवा से किया जाता है। टारपीडो छोड़ने के बाद, अथवा आवश्यकता होने पर यों भी, धूम्रपोत को पानी के ऊपर लाने के लिए, भीतर भरे हुए पानी के पीपों को खाली करना पड़ता है। वह सारा पानी पम्पों से बाहर निकाल दिया जाता है। यह काम भी दबा कर रक्खी गई हवा की सहायता से होता है।

लड़ाकू जहाज़ पानी के ऊपर रहता है, सब-मरीन धूम्र-पोत पानी के भीतर। इस दशा में टारपीडो को इस तरह छोड़ना कि वह ठीक निशाने पर लगे, बड़ा कठिन काम है। बहुत सोच समझ कर और हिसाब लगा कर भीतर से टार-पीडो की वार की जाती है। पेरिओस्कोप से जहाज़ का स्थान तो जरूर मालूम हो जाता है, परन्तु ठीक उसी जगह पर टारपीडो मारने से वह जहाज पर नहीं लगती। जहाज़ समुद्र के ऊपर रहता है और चलता जाता है। उसका वेग समुद्रान्तर्गामिनी सब-मरीन के वेग की अपेक्षा कहीं अधिक

होता है। अतएव जहाज़ और सब-मरीन के वेग, तथा टारपीडो के वेग का भी हिसाब लगा कर, जहाज़ के कुछ दूर आगे लक्ष्य बाँध कर निशाना लगाया जाता है। हिसाब ठीक होने से टारपीडो की ठोकर जहाज़ पर लगती है। ठोकर लगते ही टारपीडो का स्फोट होता है और जहाज़ के टुकड़े टुकड़े होकर वह डूब जाता है। निशाना चूकने से टारपीडो का प्रहार व्यर्थ जाता है।

इस सब-मरीन धूम्रपोत का अन्तर्भाग मनुष्य की कल्पना-शक्ति का बड़ा ही उत्कृष्ट उदाहरण है। पर खेद इस बात का है कि यह शक्ति युद्ध में मनुष्यों का संहार करने के काम में लाई जाती है। इस पोत के भीतर वायु-परीक्षक यन्त्र रहते हैं। पानी के भीतर पोत के जाने पर यन्त्रों की सहायता से वायु की परीक्षा की जाती है कि वह श्वासोच्छ्वास के लिए यथेष्ट शुद्ध है या नहीं। तिस पर भी अनेक दुर्घटनायें होती हैं। ऐसे पोत यदि कदाचित् समुद्र के ठेठ तल-प्रदेश तक पहुँच जाते हैं, तो फिर उनको ऊपर उठाना कठिन हो जाता है। वे जहाँ के तहाँ ही पड़े रह जाते हैं और तद्गत मनुष्यों के प्राण गये बिना प्रायः नहीं रहते। उनको ऊपर निकालने के लिए एक विशेष प्रकार की अलग ही नौकायें बनाई गई हैं। तथापि उनकी सहायता से भी मनुष्यों के प्राण बहुत कम बचते हैं। ऐसा प्रसङ्ग पड़ने पर इन सब-मरीन धूम्रपोतों के भीतर के मनुष्यों की प्राण-रक्षा के लिए एक विलक्षण शिरस्त्राण

तैयार किया गया है। उसमें श्वास से अशुद्ध हुई हवा आप-ही-आप शुद्ध हो कर फिर श्वासोपयोगिनी हो जाती है। यदि किसी दुर्घटना के कारण यह धूम्रपोत समुद्र की तह पर बैठ जाता है तो इसके भीतर के ख़लासी इस शिरस्त्राण को सिर पर बाँधते हैं। उस पर "लाइफ-बेल्ट" नाम का एक पट्टा लगा रहता है। वह कभी डूबता नहीं, सदा पानी पर तैरा ही करता है। शिरस्त्राण को सिर पर रख कर ख़लासी इस पट्टे को बाँधते हैं। फिर वे सब-मरीन का दरवाज़ा खोल देते हैं। ऐसा करने से वे आप ही आप ऊपर को उठते हैं और पानी की सतह पर आ जाते हैं।

आज तक इन सब-मरीन पोतों पर ऐसे तारयंत्र न थे जिनके द्वारा समुद्र-तट पर रहनेवाले अधिकारियों, अथवा अपनी गवर्नमेंट के अन्यान्य जहाज़ों के अफसरों, से बातचीत की जा सके। परन्तु अब यह बाधा भी दूर हो गई है। अब बिना तार की तार-बर्की के यंत्र ऐसे पोतों पर भी रक्खे जाने लगे हैं। सब-मरीन की पीठ पर दो-दो तीन-तीन लकड़ियों को एकत्र कर के दो तीन जगह उन्हें बाँध कर खड़ा कर देते हैं। उन्हीं के ऊपर तार खींच कर लगा देते हैं। तार-यन्त्र पोत के भीतर रहते हैं। इस प्रबन्ध से सब-मरीन समुद्र के तल तक जा कर डूब ही क्यों न गई हो, उसके अधिकारी किनारे के अधिकारियों अथवा अन्य धूम्रपोतों से बात-चीत कर सकते हैं।

भिन्न भिन्न राष्ट्रों के समुद्रान्तर्गामी पोत भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। उनकी रचना गुप्त रक्खी जाती है। तथापि यहाँ पर उनका जो वर्णन किया गया है, उससे उनकी रचना आदि का बहुत नहीं, तो थोड़ा सा ही अन्दाजा अवश्य किया जा सकेगा।

कुछ समय से इस बात का विचार हो रहा है कि ऐसे धूम्रपोतों का उपयोग समुद्र के तल-देश की परीक्षा के लिए करना चाहिये। यदि ऐसा हो तो बहुत लाभ होने की सम्भावना है।

[बालबोध से उद्धृत।

१९

विलायत में उपाधियों का क्रय-विक्रय

वर्तमान काल वाणिज्य-काल है। तरह तरह के वणिज-व्यापार से लोग रुपया कमाते हैं। संसार में ऐसी वस्तुओं की संख्या बहुत ही थोड़ी है जो रुपये से प्राप्त नहीं की जा सकतीं। जो चीज़ें रुपये से अप्राप्य समझी जाती हैं, उनमें से भी बहुत सी रुपये द्वारा, किसी न किसी तरह, प्राप्त हो जाती हैं। किसे विश्वास हो सकता है कि उपाधि जैसी श्रेष्ठ और सम्मान-सूचक वस्तु भी रुपये द्वारा घर बैठे प्राप्त की जा सकती है? सभ्य राष्ट्र अपनी प्रजा में से ऐसे ही जनों को उपाधियाँ प्रदान करते हैं जिन्होंने यथार्थ में देश या राष्ट्र की कोई अच्छी सेवा की हो, अथवा विद्वत्ता और औदार्य आदि के उच्च आदर्श दिखाये हों। परन्तु ऐसी बहुमान-व्यञ्जक उपाधियों का अब क्रय-विक्रय भी होने लगा है! सभ्य-शिरोमणि इँगलैंड देश ही में आजकल उपाधियों का बाज़ार लगा है। पियर्सन्स मैगेज़ीन नामक एक मासिक-पत्र में इस पर एक लेख निकला है।

कोई पचास वर्ष से इँगलैंड में उपाधियों का क्रय-विक्रय होने लगा है। इसी से इँगलैंड में उपाधिधारियों की संख्या

दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। क्रय-विक्रय का काम बड़ी ही गुप्त रीति से होता है। किसी को कानोकान खबर नहीं होने पाती।

इँगलैंड में लिबरल और कानसर्वेटिव नाम के दो बड़े राजनैतिक दल हैं। इन्हीं दोनों दलों के हाथ में घूम फिर कर इँगलैंड का शासन-सूत्र प्रायः रहता है। ये दोनों दल अपना अपना बल बढ़ाने का सदा यत्न किया करते हैं। इस काम के लिए इन्हें धन की आवश्यकता पड़ती है। इनके अनुयायी चन्दा कर के धन बटोरते हैं और अपने अपने पक्ष के ख़र्च के लिए सञ्चित करते रहते हैं। इन दोनों पक्षों के ऐसे आय-व्यय का हिसाब गुप्त रक्खा जाता है। वह कभी प्रकाशित नहीं किया जाता और न कोई उसे कभी देख सकता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनों दलों का कोश खूब भरा-पूरा रहता है।

संसार की शायद ही कोई जाति पूरी उदार कही जा सकती हो। मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तति है। पर उसमें नीच और उच्च के भेद की प्रथा सब जगह, और सब जातियों में किसी न किसी रूप में, अवश्य है। सबको बराबर समझने की डींग हाँकनेवाली जातियाँ भी सङ्कीर्णता की दलदल में फँसी हुई हैं। अमेरिका स्वतन्त्र है और वहाँवाले उदार-हृदय कहलाते हैं। परन्तु जब काले-गोरे का प्रश्न उठता है, तब वहाँ के गोरों की उदारता प्रायः हवा खाने चली जाती है। परन्तु हाँ, इस में सन्देह नहीं कि कहीं का समाज घोर अन्धकार में

ठोकरें खा रहा है और कहीं का आगे बढ़ा हुआ है। अँगरेज़ी समाज में भी कम त्रुटियाँ नहीं हैं। वहाँ भी कुलीनता का थोड़ा-बहुत राग अवश्य अलापा जाता है। भारत के कुलीन ब्रह्मा जी के द्वारा गढ़े जाते हैं। परन्तु कुलीन अँगरेज़ संसार ही में निर्मित किये जाते हैं। निम्न श्रेणी में उत्पन्न हुए ग्रेट ब्रिटनवासी थोड़ा ही ऐश्वर्य पाने पर मध्यम श्रेणियों में और उच्च श्रेणीवाले उच्चतम श्रेणी में कूद जाने की अभिलाषा रखते हैं। उनके लिए और अनेक उपाय तो हैं ही, परन्तु एक उपाय यह भी है कि दो में से किसी एक राजनैतिक दल का पक्ष ग्रहण करके और उस के गुप्त कोश में गुप्त दान देकर कोई न कोई उपाधि प्राप्त कर लें। दान सीधे किसी के हाथ में नहीं दिया जाता—कितने ही हाथों से होकर वह ठिकाने पहुँचता है। दान देने और लेनेवाले का कभी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। सारा काम एक मध्यस्थ कर देता है। जितना बड़ा दान होता है, उतना ही फल भी उससे प्राप्त होता है। पन्द्रह हज़ार पौंड देने से नाइट, तीस हजार देने से बेरोनेट और एक लाख देने से लार्ड की पदवी प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति मध्यस्थ का काम करता है, उसे दलाली मिलती है। दान की रक़म कई क़िस्तों में अदा की जा सकती है; परन्तु दान-दाता को यह बात किसी तरह मालूम नहीं होने पाती कि दान की रक़म किस तरह खर्च की जाती है। उपाधि पाने के पूर्व ही रक़म का बड़ा भाग दे देना पड़ता है; क्योंकि एक दो दफे ऐसा भी हुआ है कि लोगों ने

उपाधियाँ पाकर रकम देने से इनकार कर दिया। उपाधि-लोलुप लोग ऐसा भी करते हैं कि जब उन्हें एक दल उपाधि दिलाने में देर, या किसी कारण से टाल-टूल, करता है, तब वे दूसरे दल का आश्रय ग्रहण करते हैं।

गत दस वर्षों में ९६ नये लार्ड बनाये गये। इनमें से ४९ को उनकी जाति और देश-सेवा के लिए यह पदवी मिली; परन्तु, सुनते हैं, कि शेष ने रुपये दे कर ही इस गौरव-सूचक पदवी को ख़रीदा। किसी समय सर राबर्ट पील इँगलैंड के महा-मन्त्री थे। उनके शासन-काल के पाँच वर्षों में केवल पाँच आदमियों को लार्ड की पदवी मिली। परन्तु, इस समय, लार्ड की उपाधि का वितरण फ़ी महीने एक के हिसाब से हो रहा है। उसमें भी इन नये लार्डों में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जिन्होंने रुपये ही के बल से पदवी पाई है। जेम्स डगलस नाम के एक महाशय ने पियर्सन्स मैगेज़ीन में ऐसी ही बातें लिखी हैं।

उपाधि देते हैं सम्राट्, परन्तु दिलाते हैं महा-मन्त्री और मन्त्रि-मण्डल। इसमें सन्देह नहीं कि उपाधियों के क्रय-विक्रय की बात महा-मन्त्री को मालूम रहती है। लार्ड रोज़बरी इँग्लैंड के महा-मन्त्री थे। वे इस गुप्त क्रय-विक्रय से बड़े दुःखी रहते थे। यदि वे प्रयत्न करते तो कदाचित् इस प्रथा को बन्द भी करा देते; परन्तु यथार्थ में महा-मन्त्री लोग इस प्रथा के रोकने में असमर्थ से हैं। इस कुप्रथा का मिटाना स्वयं

अपने ही पैरों पर कुठार चलाना है; क्योंकि जब उपाधियों के लालच से अपनी थैलियों का मुँह खोल देनेवाले धनवान लोग राजनैतिक दलों को दान देना बन्द कर देंगे, तब, आर्थिक दशा ठीक न होने के कारण, इन दलों का बल बहुत कम हो जायगा और सदा एक दूसरे के जल्दी जल्दी पतन का भय लगा रहेगा। हाँ, प्रत्येक दल अपने अपने अनुयायियों से भी चंदा बटोर कर धन एकत्र कर सकता है; परन्तु यह काम घोर चढ़ा-ऊपरी और परिश्रम का है, और इस तरह बहुत ही थोड़ा रुपया मिल सकता है। जब तक आराम से बैठे बैठे रुपयों की ढेरी मिलती जाय, तब तक परिश्रम करके भी थोड़ा ही रुपया पाना किसे पसन्द हो सकता है? उपाधि के विषय में प्रजा चूँ तक नहीं कर सकती। किसी को उपाधि मिलने पर वह नाराज़ या खुश चाहे जितना हो ले, पर उसे यह बात जानने का कोई अधिकार नहीं कि अमुक व्यक्ति को किस लिए अमुक उपाधि मिली। सम्राट् भी नियमबद्ध हैं। वे भी उपाधि-दान के मामले में दखल नहीं दे सकते। वहाँ का कानून ही ऐसा है।

उपाधियों के क्रय-विक्रय के कारण अन्याय भी बहुत होता है। प्रायः ऐसा हुआ है कि उपयुक्त पात्रों को उपयुक्त उपाधि नहीं दी गई। इस कारण उन बेचारों को बहुत कुछ मन-स्ताप हुआ।

विलायत में अब इस प्रथा के विरुद्ध लोगों ने ज़ोर से

आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया है। लोगों ने दोनों राजनैतिक दलों से अपने अपने कोश का हिसाब प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया है। हिसाब प्रकाशित करने से भण्डा फूट जायगा। इस कारण दोनों दल अभी तक इस सम्बन्ध में आनाकानी करते जाते हैं। लोगों ने एक दूसरी भी युक्ति निकाली है। वे उन व्यक्तियों से, जो कामन्स सभा के सदस्य होने के लिए उनसे वोट माँगते हैं, इस बात का वचन लेने लगे हैं कि वे सदस्य होकर पारलियामेंट में दोनों दलों के गुप्त कोशों की जाँच के विषय में घोर आन्दोलन करेंगे। इन बातों से प्रकट होता है कि उपाधियों के क्रय-विक्रय का बाजार थोड़े दिनों में ठण्ढा पड़ जायगा। तथास्तु।

[जूलाई १९१२.

१७

व्योम-यान द्वारा मुसाफ़िरी

अब व्योम-यान द्वारा मुसाफिरी भी होने लगी। निश्चित समय पर, जहाजों की तरह, जर्मनी के कुछ बड़े बड़े नगरों में व्योम-यान यात्रियों को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक उड़ने लगे हैं। रेल और जहाज़ की यात्रा की तरह इस यात्रा के लिए भी टिकट ख़रीदने पड़ते हैं। ये टिकट योरप और अमेरिका के सब बड़े बड़े नगरों में बिकते हैं।

पहले हवा का रुख देखा जाता है। व्योमयान के कर्म्मचारी हवा में एक गुब्बारा उड़ाते हैं और उसकी गति को, ऊँचाई नापने के यन्त्र द्वारा देख कर, वायु-वेग और उसके रुख़ का पता लगाते हैं। हवा की गति का ज्ञान महत्व-शून्य नहीं। व्योम-यान के दफ्तर के दरवाज़े पर एक तख्ती लटकी रहती है, जिसमें ऋतु-सम्बन्धिनी बातों के सिवा वायु-सम्बन्धिनी बातों का भी उल्लेख रहता है। उससे पता चलता है कि कितनी ऊँचाई पर वायु का वेग कितना और किस ओर है, और तूफान आने अथवा ओलों के गिरने की सम्भावना है या नहीं। कोई भी व्योमयान तब तक उड़ने नहीं पाता, जब तक गुब्बारे

द्वारा वायु की गति का पता लगानेवाले इस बात का निश्चय न कर दें कि समय अच्छा है, वायु-गति व्योमयान की यात्रा के मुवाफ़िक़ है और आँधी-पानी की सम्भावना नहीं। बहुधा व्योमयान के उड़ने के निश्चित समय में, वायु-गति के बदल जाने अथवा दुर्दिन हो जाने के कारण, फेर-फार भी करना पड़ता है। दफ्तर के बाहर कितने ही चित्र लटके रहते हैं जिनमें व्योमयानों के किसी झील, नदी अथवा पहाड़ पर उड़ने का दृश्य अङ्कित रहता है। वहीं पर एक कर्म्मचारी मौजूद रहता है। यात्रियों के यात्रा-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देना ही उसका काम है।

व्योमयान के यात्री अपने साथ अधिक असबाब नहीं रखते। प्रत्येक यात्री अपने साथ हलका बेग, ओवरकोट, तसवीर खींचने का केमेरा आदि थोड़ी सी छोटी चीज़ें मुफ्त ले जा सकता है। अधिक असबाब होने से किराया बहुत देना पड़ता है। अधिक कपड़े साथ रखने की भी इजाज़त नहीं। दो हज़ार फुट ऊपर अवश्य कुछ सर्दी मालूम पड़ती है, परन्तु इतनी अधिक नहीं कि साधारण कपड़ों के रहते विशेष कष्ट हो। हवा की कमी नहीं होती; उसका प्रवाह किसी मुख्य दिशा की ओर नहीं होता। सौ फुट ऊपर ही सूर्य की प्रखरता लोगों की आँखों को चौंधिया देती है। इसी लिए यात्री लोग चौड़े किनारे की टोपियाँ लगाते हैं, जिससे नेत्रों की रक्षा होती रहे।

प्रातःकाल, सूर्य्योदय के पूर्व ही, व्योमयान यात्रा की तैयारी करता है। उसका गोदाम बिजली के प्रकाश से चमक उठता है। उन हौज़ों और नलों में पानी भरा जाता है जो उड़ते समय अपने बोझ से यान का बोझ साधते हैं। इस बात की अच्छी तरह परीक्षा कर ली जाती है कि इन हौज़ों और नलों में कोई नुक्स तो नहीं। फिर चमड़े के नलों द्वारा लोहे के पीपों में बन्द गेस व्योमयान के इंजिन में पहुँचाया जाता है। उसमें गेस के पहुँचते ही घोर नाद होना आरम्भ होता है। यन्त्रकार लोग यन्त्रों की परीक्षा करते हैं। इतने में सूर्योदय हो जाता है। कप्तान आता है और मुसाफिर लोग भी एक एक करके आने लगते हैं। व्योमयान का एक दरवाजा खुलता है और उसमें से एक छोटी सीढ़ी नीचे भूमि पर लटका दी जाती है। लोग उसी पर चढ़ कर व्योमयान के भीतर पहुँचते हैं। यात्रियों की संख्या चौबीस से अधिक नहीं होती। उनके भोजनादि के प्रबन्ध के लिए एक बावर्ची भी व्योमयान पर रहता है।

अब आदमियों का एक दल और आता है। व्योमयान को गोदाम से बाहर ले जाकर उस स्थान पर पहुँचाना, जहाँ से वह उड़ता है, इन लोगों का काम है। यात्री अपने मित्रों और स्नेहियों से विदा होते हैं। सीटी बजती है। तमाशबीन पीछे हट जाते हैं। नीचे लटकी हुई सीढ़ी लपेट कर ऊपर उठा ली जाती है। आये हुए दल के लोग व्योमयान के अगले हिस्से के चारों तरफ़ फैल जाते हैं और उनमें से हर एक

नीचे लटकी हुई रस्सियों में से एक एक को थाम लेता है। फिर सीटी बजती है। गोदाम के बड़े बड़े फाटक ज़ोर से खड़-खड़ाते हुए खुल पड़ते हैं और आगे का रास्ता बिलकुल साफ़ हो जाता है। तीसरी दफ़े सीटी होती है। व्योम-यान चलने लगता है। वह इतना धीरे धीरे सरकता है कि गोदाम की दीवारों की शहतीरों के देखे बिना यह नहीं मालूम होता कि वह चल रहा है या खड़ा है। रस्सियों को पकड़नेवाले आदमी ही अपना सारा बल लगा कर छः सौ मन भारी व्योमयान को आगे खींचते हैं। व्योमयान सीधा आगे बढ़ता है; वह इधर उधर गोदाम की दीवारों की ओर नहीं झुकता। उसके नीचे छोटे छोटे पहिये लगे रहते हैं जो पटरियों पर चलते हैं। गोदाम से लेकर उस स्थान तक, जहाँ से वह उड़ता है, पटरियाँ बिछी रहती हैं। पटरियों और पहियों के कारण वह सहज ही में घसीटा जाता है; इधर उधर झुकता नहीं।

अब व्योमयान गोदाम से बाहर उस स्थान में पहुँच जाता है जहाँ से उसे उड़ना है। उसके यन्त्र आदि फिर देखे जाते हैं। यन्त्र चलने पर घोर नाद आरम्भ होता है। लोग रस्सियों को छोड़ कर दूर हट जाते हैं। तब अन्तिम सीटी होती है। धीरे धीरे व्योमयान भूमि से उठता है। थोड़ी देर तक उसकी चाल बड़ी धीमी रहती है, परन्तु फिर, उसकी तेज़ गति को देख कर आश्चर्य होता है। साधारणतः वह ४० मील फी घण्टे के हिसाब से उड़ता है।

उड़ते हुए व्योमयान के भीतर का दृश्य चलते हुए जहाज़ के कमरे के दृश्य से भिन्न नहीं। साज़-सामान सब वैसा ही स्वच्छ, शुद्ध और सुखदायक मालूम होता है। जहाज़ से जहाँ तक दृष्टि पहुँचती है, जल ही जल नज़र आता है। व्योमयान से भी नीचे पृथ्वी, समुद्र के सदृश, जान पड़ती है। मैदानों में उड़ते समय व्योमयान बिलकुल हिलता-डुलता नहीं मालूम पड़ता। पहाड़ों के निकट, अथवा उन्हें पार करते समय, अवश्य उसमें थरथराहट उत्पन्न हो जाती है। झीलों और अन्य बड़े बड़े जलाशयों का दृश्य बड़ा ही मनोहर होता है। ऐसे अवसर पर तूफ़ान चलने और उससे व्योमयान के पथ में अन्तर पड़ जाने का भय रहता है। इसलिए समुद्र अथवा झील पार करते समय व्योमयान के कर्म्मचारी खूब चौकन्ने रहते हैं। पहाड़ और समुद्र आदि के ऊपर गुज़रते समय व्योमयान की गति मन्द कर दी जाती है। खुले मैदान में पहुँचते ही फिर उसकी गति बढ़ा दी जाती है।

यात्रियों के लिए भोजन का प्रबन्ध तो रहता ही है। भोजन का समय होते ही बावर्ची सब यात्रियों के सामने छोटी छोटी मेज़ें बिछा देता है। उन पर सफ़ेद कपड़ा बिछा रहता है और चाँदी के पात्र रक्खे रहते हैं। बावर्ची उनपर भोजन रख देता है। आपस में बात-चीत करते हुए यात्री भोजन करते हैं। भोजन समाप्त होने के बाद बावर्ची सब चीज़ों को हटा कर उचित स्थानों पर रख देता है। लोग मनोरञ्जन का भी सामान

कर लेते हैं। कुछ आदमी ताश खेलने लगते हैं और कुछ बात-चीत करके अपना जी बहलाते हैं। ऐसे मनचले आदमियों की भी कमी नहीं होती जो व्योमयान के एक भाग में लगे हुए बे-तार के यन्त्र की खड़खड़ाहट सुनते हुए मद्य की बोतलें खाली करते चले जाते हैं।

अब वह नगर दिखाई पड़ने लगता है जिसमें व्योमयान को उतरना है। थोड़ी देर बाद वह उस नगर के ऊपर चक्कर मारने लगता है। उस समय का दृश्य बड़ा ही हृदयाकर्षक होता है। नगर के बाज़ारों और गलियों की चहल-पहल देखते ही बन पड़ती है। कोई भी गाड़ी या ठेला दृष्टि से नहीं बचता। पैदल चलनेवाले भी व्योमयानवालों की नज़र से नहीं छिपे रहते। नगर के बाग़ और बाग़ीचे भी, चाहे वे कितने ही गुप्त स्थान पर हों, ऊपर से खूब दिखाई पड़ते हैं। नीचे की कोई भी चीज़, जो आकाश से देखी जा सकती है, नज़र से छिपी नहीं रहती। इसी कारण पारस्परिक राष्ट्रीय नियमों के अनुसार व्योमयानों का क़िलों पर से उड़ना मना है।

अब व्योमयान धीरे-धीरे अपने अड्डे पर उतरना आरम्भ करता है। उस समय उसमें झोंके से आते हैं। लोग गिरने से बचने के लिए खम्भों और कुर्सियों को पकड़ लेते हैं। रस्सियाँ पकड़ने के लिए लोग नीचे एकत्र होने लगते हैं। व्योमयान का पानी नीचे गिर जाता है। उसकी गति बन्द हो जाती है और वह उतरने लगता है। रस्सियाँ नीचे लटका दी जाती

हैं। लोग उन्हें पकड़ कर उस ओर खींचते हैं जिस ओर हवा चलती होती है। बड़ी युक्ति से व्योमयान पहियों और पटरियों पर उतार लिया जाता है। अब उसका सब पानी नीचे गिरा दिया जाता है और वह पहियों, पटरियों और रस्सी खींचनेवालों की सहायता से गोदाम में पहुँचता है। यात्रियों के मित्र उनका स्वागत करने के लिए वहाँ खड़े रहते हैं। सीढ़ी लगाई जाती है और यात्री उतर आते हैं।

[अक्टोबर १९१२.

१८

तुर्कों का उत्थान और पतन

लगभग छः सौ वर्ष बीते कि तुर्क नाम की एक छोटी सी जाति उद्दण्ड मङ्गोल लोगों के भय से अपने घर, मध्य एशिया, से भाग कर आरमीनिया प्रदेश में पहुँची। वहाँ के सेलजूक-वंशीय बादशाहों ने उसे अपनी शरण में लिया। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में, मङ्गोल लोगों ने सेलजूक–साम्राज्य पर चढ़ाई कर दी। उसकी समाधि पर एक छोड़ दस छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। भगोड़ी तुर्क जाति के तत्कालीन अधिपति का नाम था उसमान। वह भी इस विप्लव से लाभ उठाने में पीछे न रहा। उसने भी कुछ भूमि दबा ली और राजा बन बैठा। अपने साहस और बुद्धि-वैभव से उसने अन्य राजों को भी शीघ्र ही अपने अधीन कर लिया। तुर्कों का वही पहला स्वतन्त्र राजा हुआ। तुर्कों में उसी के नाम पर पहले-पहल सिक्के चले और मसजिदों में खुतबा पढ़ा गया। उसी के नाम पर तुर्क लोगों का नाम उसमानी और उनके भावी साम्राज्य का नाम उसमानी साम्राज्य पड़ा। योरप की भाषाओं में, इसी उसमानी शब्द का अपभ्रंश आटोमन हो गया।

१३५९ में, मुराद (प्रथम) तुर्कों का राजा हुआ। उसने अपना हाथ योरप की ओर बढ़ाया। योरप के दक्षिण-पूर्व में बालकन नाम का एक प्रायद्वीप है। उस समय उस पर कान्सटेन्टीनोपिल्ल के ईसाई सम्राट् का शासन था। मुराद ने बालकन के एक बड़े भाग को बलवत् अपने अधीन कर लिया। योरप की ईसाई शक्तियाँ मुसलमानों के इस दबदबे से बहुत घबराईं। कई ईसाई राजों ने मिलकर मुराद पर आक्रमण कर दिया। १३८९ में घोर युद्ध हुआ और मुराद मारा गया। परन्तु विजयी मुसलमान ही रहे। इस विजय से सर्विया देश उनके हाथ लगा।

धीरे धीरे तुर्कों ने ईसाई राजों से बलगेरिया भी छीन लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य काल में वे हंगरी राज्य की सीमा तक पहुँच गये। योरप में वे पहुँच तो दूर तक गये थे, ईसाई जातियों में उनकी धाक भी खूब बैठ गई थी, लोग उनके मुक़ाबले में आने से भी भय खाने लगे थे, परन्तु अभी तक वे वायजन्टाइन साम्राज्य की राजधानी, कान्सटेन्टीनोपिल नगरी को, जो उनके विजित देशों के एक कोने ही में पड़ती थी, न जीत सके थे। तुर्कों की यह परम अभिलाषा थी कि वे ईसाइयों के इस पुनीत नगर पर अपनी सत्ता जमावें। इस-लिए उन्होंने उसे कई बार घेरा भी, परन्तु वे सफल-मनोरथ न हुए। १४५१ में मुहम्मद द्वितीय तुर्कों का राजा हुआ। वह वीर और साहसी था। साथ ही उसका हृदय उच्चाकांक्षाओं

से भी पूर्ण था। उसने अन्त में, वह काम कर दिखाया जिसके लिए तब तक तुर्क लालायित थे। १४५३ में, उसने कान्स-टेन्टीनोपिल घेर लिया। घमासान युद्ध हुआ। अन्त में तुर्कों की तोपों के सामने दुर्ग की दीवारें खड़ी न रह सकीं। ईसाइयों का सारा परिश्रम और आत्मोत्सर्ग निष्फल हुआ। उनका सम्राट् भी युद्ध करते करते धराशायी हुआ। ईसाई संसार के परम पवित्र स्थान सेंट सोफ़िया नाम के गिरजा-घर पर ईसाई धर्म्म का सूचक 'क्रास' न रह सका। उस पर इसलामी चन्द्रमा चमकने लगा। विजयी मुहम्मद ने सगर्व्व नगर में प्रवेश करके उस नई मसजिद में नमाज़ पढ़ी। कान्स-टेन्टीनोपिल तुर्कों की राजधानी बना। तुर्की राजा सुलतान हुए और उनका राज्य हुआ तुर्की साम्राज्य। आज इसी साम्राज्य को हम तुर्की या उसमानी साम्राज्य के नाम से पुकारते हैं।

इस विजय के कारण मुहम्मद योरप के इतिहास में विजयी मुहम्मद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद वह चुपचाप न बैठा रहा। उसने योरप में अपना राज्य और भी बढ़ाया। क्राइमिया और बोसनिया को जीता। ग्रीकों के द्वीप-समूह के कितने ही द्वीपों को उसने अपने अधिकार में कर लिया। उसका विचार इटली और स्पेन पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित करने का था; परन्तु, १४८१ में, उसकी मृत्यु हो गई।

१५१२ में, सलीम प्रथम सुलतान हुआ। वह भी बड़ा

प्रतापी बादशाह था। उसने तुर्की साम्राज्य को और भी प्रशस्त किया। वह फ़ारिस की बहुत सी भूमि दबा बैठा। सीरिया और मिस्र को भी उसने जीता। उसका पुत्र सुलेमान भी पिता के सदृश ही हुआ। उसने योरप के कुछ द्वीपों, तथा अफ़रीक़ा के अलजियर्स और ट्रिपोली को ले लिया। हंगरी के राजा तक उसे कर देने लगे। इस सुलतान के समय में तुर्क लोग उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गये। उसकी सेना प्रथम श्रेणी की समझी जाती थी। उनका जहाज़ी बेड़ा भी इतना बड़ा था कि समुद्री युद्ध में उस समय कोई भी उसकी बराबरी न कर सकता था। उनकी पहुँच भी दूर दूर तक थी। हंगरी और आस्ट्रिया तो उनका घर-द्वार था। जर्मनी के मैदानों तक वे धावे मारते थे।

सुलेमान के बाद उसका पुत्र सलीम द्वितीय सुलतान हुआ। वह अपने योग्य पिता का अयोग्य पुत्र निकला। उसी के समय से तुर्की साम्राज्य के पतन का आरम्भ हुआ। इसके बाद जो सुलतान हुए, उनमें से अधिकांश अयोग्य ही नहीं, किन्तु दुराचारी, दुर्व्यसनी, डरपोक और निर्बल थे। साम्राज्य में सुशासन न रहा। अत्याचार, लूट-मार और दुराचार की वृद्धि होने लगी। जो जिसके मन में आता था, सो करता था। सेना को वश में रखना मुश्किल था। कितने ही सुलतान तुर्की सेना के हाथों मारे गये। बग़ावतें शुरू हो गईं। सुलतानों का नाकों दम आ गया। ईसाइयों पर अत्याचार होने लगे। टर्की की इस

दुरवस्था के कारण उसके पड़ोसी राज्य, आस्ट्रिया और रूस, दिन पर दिन बलवान् होते जाते थे। अन्त में टर्की को निर्बल समझ कर, १७३६ में, रूस और आस्ट्रिया ने ईसाइयों की रक्षा के बहाने उससे युद्ध ठान दिया। यद्यपि टर्की का पतन हो रहा था, तथापि, अभी तक, वह इतना निर्बल न हो गया था कि उसे जो चाहता, हरा देता। आस्ट्रिया को हारना पड़ा। उसने और उसके मित्र रूस ने टर्की को कुछ ले-देकर अपना पीछा छुड़ाया। इस घटना से टर्की को सबक सीखना था। पर वह आँखें मूँदे अपनी पुरानी मस्त चाल से चलता रहा और कई बार ठोकरें खाने पर भी न चेता। इसका फल जो होना था, वही हुआ।

सेण्ट सोफ़िया नाम के गिरजाघर को तुर्कों ने मसजिद बना डाला, यह ऊपर कहा जा चुका है। उसका तुर्की नाम है आयासोफ़िया; तथापि सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी ईसाई-संसार ने उससे ममता नहीं छोड़ी। क्रास के स्थान पर चन्द्र-चिह्न देख कर, कान्सटेन्टीनोपिल के ईसाई यात्री के हृदय में अब तब शूल उठता है। पश्चिमी योरप की ईसाई जातियों का विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा, जब सेन्ट-सोफ़िया में इसलामी अज़ाँ के बदले पादड़ियों के घण्टों का नाद सुनाई पड़ेगा। ये जातियाँ चुप भी नहीं बैठीं। समय समय इन्होंने सेन्ट सोफिया पर अधिकार प्राप्त करने का भर-सक प्रयत्न भी किया। अठारहवीं शताब्दी के तृतीय और चतुर्थ चरण में रूस का शासन-सूत्र रानी कैथराइन के हाथ में

था। वह बड़ी ही चालाक और कट्टर ख़याल की रानी थी। वह तुर्कों को योरप से मार भगाना और कान्सटेन्टीनोपिल में ईसाई राज्य स्थापित करना चाहती थी। १७६८ से १७९६ ईसवी तक उसने टर्की को बहुत तङ्ग किया। वह टर्की से लड़ी भी। यदि आस्ट्रिया बीच बीच में उसकी गति का बाधक न बनता तो वह योरप से तुर्कों को निकाले बिना न छोड़ती। तो भी उसने तुर्कों के राज्य का बहुत सा भाग छीन लिया और सन्धि करते समय उनसे एक ऐसी शर्त करा ली जिसके कारण टर्की को पीछे बहुत सी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। उस शर्त के अनुसार रूस को तुर्कों की राजधानी में एक गिरजा-घर बनाने का स्वत्व प्राप्त हुआ। सन्धि-पत्र में एक शर्त यह भी थी कि उस गिरजाघर से सम्बन्ध रखनेवाले ईसाइयों के विषय में यदि कभी रूस को कुछ कहना पड़े, तो तुर्कों को उस पर अवश्य विचार करना चाहिए। इस शर्त से रूस ने अपना अच्छा मतलब गाँठा। वह टर्की की ईसाई प्रजा का संरक्षक बन बैठा।

इधर टर्की की दशा खराब ही होती गई। राज्य में उत्पात बढ़ता गया। वहाबी नाम का एक मुसलमानी पन्थ भी इसी समय निकल पड़ा। उसकी धार्म्मिक कट्टरता ने टर्की की ईसाई प्रजा के हृदय में अशान्ति की अग्नि और भी भड़का दी। उधर बालकन की ईसाई जातियाँ कुछ तो उकसाई जाने से और कुछ अपनी पड़ोसी अन्य जातियों को स्वतन्त्रता का सुख

अनुभव करते देख टर्की की गुलामी का तौक़ उतार फेंकने के लिए बेचैन होने लगीं।

इस बीच में नेपोलियन ने मिस्र में फ्रान्स का झण्डा गाड़ दिया। परन्तु वह वहाँ अधिक दिनों तक न रह सका। इँगलैंड नेपोलियन का परम शत्रु था। उसी की कृपा से बेचारा टर्की अपनी इस छीनी गई सम्पत्ति को फिर पा गया। ग्रीक लोग भी उधर स्वतन्त्र होने की फ़िक्र में थे। वे भी टर्की से लड़े-भिड़े। परन्तु अन्त में मुक़ाबिले में न ठहर सके। इधर रूस की सहायता से सर्विया-वाले उठ खड़े हुए। वे वर्षों टर्की से लड़ते-भिड़ते रहे। अन्त में, १८१७ में, उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब ग्रीक लोग चुप न बैठ सके। वे फिर बिगड़े, पर बेतरह हारे। योरप के राज्यों ने बीच-बचाव कर देना चाहा; परन्तु टर्की ने उनकी एक न सुनी। इस पर, १८२७ में, इँग्लैण्ड, रूस और फ्रांस ने अपनी संयुक्त नाविक सेना लेकर टर्की पर चढ़ाई कर दी। फल यह हुआ कि टर्की हारा। ग्रीस स्वतन्त्र हो गया। रूस ने भी कुछ भूमि अपने राज्य में मिला ली। टर्की को इन झगड़ों से छुट्टी मिली तो मिस्र का मुहम्मद पाशा, सीरिया छीनने की नीयत से, उस पर आक्रमण कर बैठा। बड़ी मुश्किलों से, इँग्लैंड की कृपा से, उसे मुहम्मद के चंगुल से छुटकारा मिला।

१८५३ में रूस फिर टर्की से भिड़ पड़ा। इस युद्ध का कारण यह था कि अब रूस अपने को टर्की की सारी ईसाई

प्रजा का संरक्षक कहने लगा था। टर्की को यह बात अच्छी न लगी। उसने इसका विरोध किया। बस, फिर क्या था; युद्ध छिड़ गया। इस बार इँग्लैंड और फ्रांस ने टर्की की सहायता की। अन्त में रूस को नीचा देखना पड़ा। उसे कुछ दबना भी पड़ा। युद्ध के बाद टर्की ने घोषणा की कि अब से धर्म्म, भाषा और जाति के लिहाज़ से किसी के साथ कुछ रिआयत न की जायगी। योरप के राष्ट्रों ने भी वचन दिया कि उनमें से कोई भी, अब, टर्की के घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप न करेगा। यह युद्ध, इतिहास में, क्राइमियन युद्ध के नाम से विख्यात है।

टर्की ने करने को तो घोषणा कर दी, परन्तु उत्पात होते ही रहे और ईसाई यह शिकायत करते ही रहे कि हमें कष्ट मिल रहा है। पर उन्हें सचमुच ही कष्ट मिलता था या नहीं, यह भगवान ही जाने। अन्त में, १८७७ में, सर्विया और मान्टीनिग्रो ने टर्की के विरुद्ध शस्त्र उठाया। रूस ने उनका साथ दिया। पर किसी ने टर्की का पक्ष न लिया। अन्त में टर्की को हार कर सन्धि करनी पड़ी। सर्विया, रुमानिया और मान्टीनिग्रो पूर्णतया स्वतंत्र हो गये। बलगेरिया नाम का एक बड़ा भारी ईसाई राज्य अलग बन गया। वह टर्की के अधीन रक्खा गया। बोसनिया और हर्ज़ीगोविना नाम के दो तुर्की प्रान्त आस्ट्रिया की देख-रेख में रहे; पर नाम मात्र के लिए। राज-सत्ता उन पर टर्की ही की मानी गई। ग्रीस ने अपनी सीमा बढ़ा ली। टर्की ने मैसीडोनिया प्रान्त में सुधार करने

का वचन दिया। टर्की साम्राज्य का योरपियन शरीर बिलकुल ही कट-छँट गया। इस कतरनी का, जिसने इतनी, काट-छाँट की, नाम है "बर्लिन की सन्धि"।

टर्की के भाग्य में इतनी ही दुर्गति न बदी थी। उसे अपने शरीर को और भी कटवाना पड़ा। १६०८ में, टर्की में एक नवीन भाव का सञ्चार हुआ। युवा तुर्कों ने स्वेच्छाचारी सुल्तान अब्दुल हमीद को सिंहासन से उतार कर कैद कर लिया। उन्होंने एक पारलियामेंट बना ली। प्रजा की व्यवस्था के अनुसार काम करने की शपथ खानेवाले शाही ख़ानदान के एक आदमी को सुलतान का पद दिया। परन्तु उस क्रान्ति के समय टर्की को निर्बल देख कर आस्ट्रिया ने बोसनिया और हर्जीगोविना को हड़प लिया। उधर बलगेरिया भी स्वतन्त्र बन बैठा। अभी उस दिन इटली ने भी टर्की से ट्रिपोली छीन लिया। अब मिस्र में उसकी अंगुल भर भी ज़मीन न रह गई। यूरप में मैसीडोनिया और अलबानिया आदि दो एक सूबे जो टर्की के अधीन रह गये थे, वे भी अब गये ही समझिए। ईसाइयों की नज़रों में वे बेतरह खटक रहे थे। उन्हीं की प्राप्ति के लिए इस समय बालकन प्रायद्वीप में युद्धाग्नि प्रज्वलित है। ग्रीस, सर्विया, बलगेरिया और मांटिनिगरो मिल गये हैं। सब ने एक साथ टर्की पर चढ़ाई की है। भीतर ही भीतर योरप की और शक्तियाँ भी, अपना अपना आन्तरिक मतलब साधने के लिए, उन्हें पुचाड़ा दे रही हैं। ये लोग मन ही मन तुर्कों से

कहते हैं—“निकल जाव यूरप से। यूरप ईसाइयों के लिए है, मुसल्मानों के लिए नहीं। ईसाइयों पर एशियावालों को सत्ता चलाने का मजाज़ नहीं”। सारी बातों की बात यह है, और कुछ नहीं।

इस युद्ध का जो कारण बताया जाता है, वह यह है। टर्की के अधीन मैसीडोनिया नाम का जो प्रान्त योरप में है, उसके अधिकांश निवासी ईसाई हैं। बर्लिन की सन्धि के अनुसार यह तै हो गया था कि मैसीडोनिया को स्वराज्य दे दिया जाय। आन्तरिक मामलों में वह जो चाहे सो करे; केवल बाहरी बातों के विषय में वह टर्की के अधीन रहे। अब कहा यह जाता है कि टर्की ने मैसीडोनिया को स्वराज्य नहीं दिया। उसके ईसाई धर्म्मानुयायियों को क्रूर तुर्कों के अत्याचार से बचाने और मैसीडोनिया में, बर्लिन की सन्धि के अनुसार, स्वराज्य स्थापन करने ही के लिए हम लड़ते हैं। सो मुसलमान-तुर्क अत्याचारी, और यूरप के ईसाई शान्ति के अवतार! इसी से योरप के चारों शान्ति-सागरों ने, सुनते हैं, युद्ध छिड़ने के पहले ही योरप के अन्तर्गत तुर्कों के राज्य को, आपस में, कागज पर, बाँट लिया था। और अब तो यह सचमुच ही बँटा हुआ सा है; क्योंकि तुर्क बराबर हारते ही चले जाते हैं। बलगेरिया की फौज कान्स्टैन्टनोपिल के पास पहुँच गई है। सो अब तुर्कों का पैर वहाँ से उठ गया समझिए। महाशक्तियों का पारस्परिक संघर्षण बचाने के लिए कान्स्टैन्टिनोपल और डारडनल्स मुहाने पर

तुर्कों का कब्ज़ा रह जाय, तो चाहे भले ही रह जाय। पर वह भी औरों के लाभ के लिए, तुर्कों के नहीं।

एक समय था जब तुर्कों के नाम से योरप के बड़े बड़े साम्राज्य भयभीत रहते थे। मिस्र की उर्वरा भूमि और एशिया मायनर के धनवान् देशों से लेकर ट्रिपली, अरब और अलजियर्स की मरुभूमि तक के अधिपति उन के चरणों पर सौगातें रखने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। आज उन्हीं तुर्कों का, जिनका संसार में इतना ऊँचा स्थान था और जिन का शताब्दियों तक बोल-बाला रहा, बड़ा ही बुरा हाल है। वे ठोकर पर ठोकर खाते हैं। लोग उन्हें पीछे से धक्के पर धक्के लगाते हैं। उनके अस्तित्व तक को मिटा देने का प्रयत्न हो रहा है।

सैकड़ों वर्षों से टर्की का सम्बन्ध योरप की महाशक्तियों से है। इन शक्तियों की काया-पलट हो गई। पर टर्की चुपचाप इस परिवर्तन को देखता रहा। अपने पड़ोसियों को उन्नत होते देख कर भी उसने सबक न सीखा। यदि वह अब भी न सीखेगा तो एशिया में भी उस की ख़ैर नहीं। जिस की भुजा में बल है, वही सुख से संसार में रह सकता है। उसी से सब कोई डरता है। उसी के हक़ नहीं मारे जाते। उसी का सब कहीं आदर होता है। निर्बल का कहीं भी गुज़ारा नहीं।

[दिसम्बर १९१२

११

भारत में शिक्षा-प्रचार

(१)

प्रारम्भिक बातें

गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने, हाल में, एक बड़ी अच्छी पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक एच० शार्प साहब, सी० आई० ई० की लिखी हुई है। इसमें १६१० से १६१२ ईसवी तक के शित्ता-प्रचार की पञ्च-वार्षिक आलोचना है। शित्ता-प्रचार के सम्बन्ध में गवर्नमेंट की नीति क्या है? ईस्ट-इंडिया कम्पनी के समय से लेकर अब तक शित्ता के सम्बन्ध में क्या क्या परिवर्तन हुए? कैसे कैसे कालेज और स्कूल पहले थे और कैसे अब हैं? उनमें किस तरह की शिक्षा दी जाती है? उसका फल कैसा हुआ है? शित्ता-प्रचार के विषय में जन-समुदाय की क्या राय है? गवर्नमेंट कहाँ तक प्रचार का ख़र्च दे सकती है? इसी तरह की और भी कितनी ही आवश्यक बातों की समालोचना इसमें की गई है। इसमें शित्ता के प्रचार और विस्तार का, विश्वविद्यालयों, कालेजों और स्कूलों की स्थापना और पढ़ाई का, उद्योग-धन्धे और दस्तकारी आदि से सम्बन्ध रखनेवाले

स्कूलों और कालेजों तथा उनमें शिक्षणीय विषयों का विवेचन है। राजा और तअल्लुकेदारों के लड़कों की शिक्षा, यूरोप के निवासियों के बच्चों की शिक्षा, अपाहजों और पागलों की शिक्षा, असभ्यों और अनार्यों की शिक्षा और स्त्री-शिक्षा पर भी विचार किया गया है। हमारे मुसलमान भाइयों की शिक्षा का विचार एक अलग अध्याय में किया गया है। उनको यह महत्व इस-लिए दिया गया है कि वे शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए हैं। अब तक वे पुरानी नवाबी और बादशाही के स्वप्न ही, घर बैठे, देखते रहे हैं। शिक्षा की तरफ़ उनका विशेष ध्यान नहीं रहा। उर्दू, फारसी और अरबी के जाल में फँसने से भी उन्हें आवश्यकीय सांसारिक शिक्षा प्राप्त करने का कम मौक़ा मिला है। इसी से सरकार यह चाहती है कि वे अब अधिक शिक्षित हो जायँ और पुराने स्वप्न देखना भूल जायँ। तथास्तु। नहीं कह सकते कि यह इतनी उपयोगी रिपोर्ट हिन्दी के किन किन समाचारपत्रों को मिली है या मिलेगी। हमारी प्रार्थना तो यह है कि जिन को न मिले, वे भी ४।=) खर्च करके इसे मँगावें और इससे लाभ उठावें—इसकी समालोचना करें; और जिस विषय में जरूरत समझें, गवर्नमेंट को सलाह भी दें।

(२)

शिक्षा की दशा

१९०७ ईसवी में सारे भारतवर्ष में सिर्फ ५४ लाख लड़के शिक्षा पाते थे। परन्तु ५ वर्ष बाद, अर्थात् १९१२ ईसवी में यह

संख्या बढ़ कर ६८ लाख के लगभग पहुँच गई। अर्थात् लड़कों की संख्या में कोई २६ फी सदी वृद्धि हुई। परन्तु भारत की आबादी के ख़याल से यह संख्या सिर्फ २७ फी सदी के बराबर है। अर्थात् १०० मनुष्यों में सिर्फ़ २$\frac{3}{4}$ मनुष्य शिक्षा पाते थे। इन १०० में २$\frac{3}{4}$ मनुष्यों की शिक्षा के लिए पहले तो बहुत ही कम खर्च होता था; परन्तु सन् १९१२ ईसवी में इस ख़र्च की मात्रा बढ़ कर ७ करोड़ ८६ लाख हो गई। ५ वर्ष पहले जहाँ ५ करोड़ ५९ लाख रुपया खर्च होता था, वहाँ २ करोड़ २७ लाख रुपया अधिक ख़र्च करना गवर्नमेंट के लिए प्रशंसा की बात अवश्य है। पर शिक्षा एक ऐसा विषय है जिसका महत्व और अनेक बातों से भी बढ़ कर है। और कामों में चाहे कम ख़र्च किया जाय, परन्तु शिक्षा में अधिक ख़र्च करना गवर्नमेंट का प्रधान कर्त्तव्य है। शिक्षा ही से मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त होता है और शिक्षा न मिलने ही से पशुत्व। भारत की ३२ करोड़ आबादी से कर के रूप में गवर्नमेंट जो रुपया लेती है, उसका अधिकांश उसे प्रजा ही की भलाई के लिए ख़र्च करना चाहिए। और प्रजा की भलाई शिक्षा-प्राप्ति ही पर सब से अधिक अवलम्बित है। गवर्नमेंट इस बात को समझती है और इसी लिए वह शिक्षा के ख़र्च को बढ़ाती चली जाती है। पर यह बढ़ा हुआ ख़र्च भी आबादी के हिसाब से फी आदमी चार आना भी नहीं पड़ता। अतएव यह बहुत ही कम है। गवर्नमेंट शिक्षा के लिए जो कुछ कम ८ करोड़ रुपया ख़र्च करती है, वह सब

रुपया उसी का नहीं। अपने ख़ज़ाने से तो वह केवल ४ करोड़ ५ लाख देती है। बाकी रुपया जो ख़र्च होता है, वह उदार भारतवासियों के चन्दे आदि से मिलता है। इस दशा में गवर्नमेंट के ख़र्च की मात्रा घट कर फ़ी आदमी दो ही आने रह जाती है। यूरोप और अमेरिका के भिन्न भिन्न देशों में सर्व-साधारण की शिक्षा के लिए जितना रुपया ख़र्च किया जाता है, उसके मुकाबिले में सरकार का यह ख़र्च दाल में नमक के भी बराबर नहीं। जिनके ऊपर गवर्नमेंट सत्ता चलाती है, उनकी सुशिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना उसका सबसे बड़ा कर्तव्य है।

(३)

मुसलमानों में शिक्षा

इस देश में जितने आदमी रहते हैं, उनमें फ़ी सदी केवल १·९ लड़के, १९०२ में, स्कूल जाते थे। अर्थात् सैकड़े पीछे २ लड़के भी शिक्षा न पाते थे। उस साल सारे भारत में लिखे-पढ़ों की संख्या फी सदी केवल ५·३ थी। १९११ में स्कूल जानेवाले लड़कों का औसत फी सदी २·७ हो गया और लिखे-पढ़ों की संख्या फी सदी कुछ कम ६ हो गई। इसका मतलब यह हुआ कि १९११ में फी सदी ९४ आदमी निरक्षर भट्टाचार्य थे और सैकड़े पीछे सिर्फ २¾ आदमी (लड़के) मदरसों में शिक्षा-प्राप्ति के लिए जाते थे। शार्प साहब की रिपोर्ट का पहला ही भाग, अब तक, हम देख पाये हैं। उसमें हिन्दुओं की निरक्षरता और पण्डिताई (!) का अलग हिसाब नहीं दिया गया। अतएव नहीं

कह सकते, उनमें इन गुणों या अवगुणों की कहाँ तक ह्रास-वृद्धि हुई है। पर मुसलमानों का लेखा शार्प साहब ने इस रिपोर्ट में अलग दे दिया है। इससे सूचित होता है कि हमारे मुसलमान भाई शिक्षा में खूब जल्दी जल्दी कदम बढ़ा रहे हैं। इस देश में कोई ६ करोड़ मुसलमान रहते हैं। अर्थात् कुल आबादी के लिहाज़ से उनकी संख्या फ़ी सदी २२ है। इन ६ करोड़ में से—१९०७ में ११,७२,३७१, १९१२ में १५,५१,१५१ लड़के, मुसलमानों के, शिक्षा पाते थे। यह वृद्धि फ़ी सदी ३२ के हिसाब से पड़ी। शिक्षा पानेवाले समग्र भारतवासी लड़कों की संख्या में तो फ़ी सदी २६ ही की वृद्धि हुई; पर मुसल्मानों के लड़कों की संख्या उससे फ़ी सदी ६ अधिक बढ़ गई। इस से प्रकट है कि मुसल्मान बड़े धड़ाके से अपने लड़कों को शिक्षित कर रहे हैं और दिन पर दिन उनकी संख्या बढ़ाते जा रहे हैं। शार्प साहब के कथन से यह भी मालूम हुआ कि कहीं कहीं मुसल्मान लड़कों का औसत हिन्दू लड़कों के औसत से बढ़ गया है। उदाहरण के लिए, कुलीनता का दम भरने-वाले ब्राह्मणों के प्रान्त संयुक्त-प्रान्त में यदि सौ में ९ लड़के हिन्दुओं के स्कूल जाते हैं, तो मुसलमानों के १३ जाते हैं। शिक्षा-वृद्धि के कारण ही लिखे-पढ़े मुसलमानों की संख्या भी हर साल बढ़ती चली जा रही है। इस वृद्धि पर शार्प साहब बहुत खुश हैं। होना ही चाहिए। परन्तु यह बात समझ में न आई कि फिर, मुसलमान शिक्षा में अब तक पिछड़े हुए क्यों माने जाते हैं।

हिन्दुओं से भी जब वे शिक्षा में कहीं कहीं बढ़ गये हैं, तब उनकी शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध की जरूरत क्यों ?

प्रारम्भिक मदरसों की अपेक्षा मुसल्मान लड़कों की संख्या कालेजों में फ़ी सदी अधिक है; और अरबी, फ़ारसी, उर्दू के मकतबी और खास तरह के मदरसों में तो यह संख्या और भी बढ़ी हुई है। बात यह है कि अपने लड़कों को कुरान पढ़ाना और अरबी फ़ारसी के मौलवी बनाना मुसल्मान सब से अधिक ज़रूरी समझते हैं। शार्प साहब की राय है कि हिन्दुस्तान के मुसल्मानों की भाषा उर्दू है। पर इसका यह मतलब नहीं कि सभी कहीं वे यह भाषा बोलते हैं अथवा इससे परिचय रखते हैं।

"Urdu is the recognized Lingua Franca of the Muhammadans of India. But it does not follow that it is every where the vernacular commonly used by them, or even that they have any acquaintance with it."

अच्छी बात है। मुसल्मानों की सार्वदेशिक भाषा उर्दू सही। पर सौ में बाईस आदमियों की भाषा उर्दू होने से भी तो वह सारे देश की भाषा नहीं हो सकती। फिर यहाँ तो बात ही और है। शार्प साहब के कथनानुसार भी सभी कहीं के मुसल्मान उर्दू नहीं जानते। इस दशा में, सौ में दस ही पाँच आदमी जिस भाषा को जानते हैं और जिसमें लिखी गई किताबें छापने के लिए टाइप तक दुर्लभ हों, उसी को सर्व-गुण-संपन्न व्यापक भाषा बतानेवालों की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा वृद्धि पर है। किसी किसी प्रान्त में पाँच वर्ष पहले की अपेक्षा अब दूनी लड़कियाँ मदरसों में शिक्षा पा रही हैं। यद्यपि इनका अधिकांश प्रारम्भिक पाठशालाओं ही में है, तथापि कुछ लड़कियाँ ऊँचे दरजे के मदरसों में भी पहुँच रही हैं। साल में दस पाँच कालेजों में भी दाख़िल हो जाती हैं। पर बेचारे संयुक्त प्रांत की स्त्री-शिक्षा की अवस्था बहुत ही शोचनीय है। इस विषय में मध्य प्रदेश और बरार तक उससे बढ़ा हुआ है। १६०७ में, कुल भारतवर्ष में, साढ़े छः लाख लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं। १६१२ में यह संख्या बढ़ कर साढ़े नौ लाख हो गई। अर्थात् फ़ी सदी ४७ की वृद्धि हुई। अन्य अनेक प्रान्तों में इस वृद्धि की इयत्ता ३७ से लेकर ६२ फ़ी सदी तक है। पर निरक्षरता के नीर-निधि में निमग्न संयुक्त प्रान्त में वह ३५ से अधिक नहीं। हमारे इस अभागी प्रान्त में मदरसे जाने योग्य १०० लड़कियों में एक ही लड़की पढ़ने जाती है। एक तो यहाँ लड़कियों के मदरसे ही बहुत कम हैं; दूसरे जहाँ हैं भी, वहाँ परदा मारे डालता है; तीसरे देहात में लड़कियों को शिक्षा देना अनावश्यक समझा जाता है।

अब ज़रा देखिए, भिन्न भिन्न जातियों और धर्मानुयायियों में शिक्षा पानेवाली लड़कियों की संख्या कितनी है—

	किरानियों की	हिन्दू		मुसलमानों की	पारसियों की	योरपवालों की
		ब्राह्मणों की	अब्राह्मणों की			
१९०७	६२,२८४	८६,६६४	२,६७,४२५	१,२१,६६६	६,१७०	१४,४४८
१९१२	७२,९४१	१,२०,८१२	४,४१,२६७	२,१३,२४७	६,५२८	१६,२१०
जितनी लड़कियाँ पढ़ती हैं, उनमें इनका फ़ी सदी औसत।	७·७	१२·७	४६·३०	२२·४	·७	१·७
संख्या-वृद्धि का फ़ी सदी औसत।	१७·१	१९·२	४८·७	७५·२	५·८	१२·२
स्कूल जाने योग्य उम्र की लड़कियों के लिहाज़ से शिक्षा पाने-वाली लड़कियों का फ़ी सदी औसत।	२६·६	१६·७	२·९	४·५	८८·८	१००

इस नक्शे में बौद्धों तथा अन्य धर्म्मवालों का हिसाब नहीं दिया गया। इस लेखे से सिद्ध है कि योरपवालों की एक भी स्कूल जाने योग्य उम्र की लड़की ऐसी नहीं जो शिक्षा न पा रही हो। इनसे उतर कर पारसियों का नंबर है। फिर देसी किरानियों का, फिर कहीं हिन्दुओं का। परदे के दास मुसलमानों में गत ५ वर्षों में, देखिए, स्त्री-शिक्षा की कितनी वृद्धि हुई है। उनकी लड़कियों की संख्या ७५ फ़ी सदी बढ़ गई; पर हमारे ब्राह्मण देवताओं की लड़कियों की संख्या में केवल १६ फी सदी की वृद्धि हुई। अब बात बात पर मनु की दुहाई देने और—

"स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् सकाशादग्रजन्मनः।"

का घोष करनेवाले अग्र-जन्माओं से किस बात की शिक्षा ली जाय? जिस विद्या और शिक्षा की बदौलत वे बड़े हुए हैं, उसमें तो अनुजन्मा अब्राह्मणों ही से उन्हें उलटा उपदेश लेना चाहिये। गार्गी वाचक्नवी का चरित गाने ही से क्या लड़कियाँ शिक्षित हो जायँगी?

[अप्रैल १९१४.

२०

स्वेज़ नहर

योरप और एशिया का सम्बन्ध जिन कारणों से घनिष्ठ हो गया है, उनमें से स्वेज़ नहर मुख्य है। पहले जो जहाज़ योरप से एशिया आते थे, उनको यहाँ तक पहुँचने में कई महीने लगते थे। पर जब से यह यहर बन गई, तब से लन्दन से बम्बई आने में सिर्फ़ दो सप्ताह लगते हैं। इस तरह महीनों का रास्ता हफ्तों में तै होने से योरप को एशिया पर व्यापारिक और राजनैतिक प्रभुत्व जमाने में जो सुविधा हुई है, वह अकथनीय है। यह नहर लाल-सागर (Red Sea) और भूमध्य-सागर (Mediterranean Sea) के बीच में है। इसकी लम्बाई स्वेज़ से सईद बन्दर तक कोई सौ मील है। १८६९ ईसवी में इसको एक फ़रासीसी इञ्जिनियर ने बनाया था। जब यह बनी थी, तब इसकी चौड़ाई पानी की सतह पर डेढ़ सौ से लेकर तीन सौ फुट तक थी और पेंदे में कोई बहत्तर फुट; तथा गहराई छब्बीस फुट थी।

सन् १८६९ में जितने बड़े जहाज़ बनते थे, उनकी अपेक्षा बड़े जहाज़ आज-कल बनते हैं। इसलिए जहाज़ों का आकार

बढ़ने के साथ साथ नहर को और भी चौड़ा और गहरा बनाने की आवश्यकता हुई। नहर की चौड़ाई और गहराई जितनी शुरू में रक्खी गई थी, उतने से बृहदाकार जहाज़ों को आने जाने में कठिनता पड़ने लगी। इसलिए नहर के अधिकारी उसे बढ़ाने की तजवीज़ बहुत दिनों से कर रहे थे। अन्त में निश्चय हुआ कि नहर का आकार दूना कर दिया जाय और काम इस तरह किया जाय जिसमें जहाज़ों के आने जाने में कोई असुबिधा न हो। इसके लिए १६०१ ईसवी में डेढ़ करोड़ रुपये की मंजूरी हुई। कोई दस बारह वर्ष में यह काम ख़तम हुआ।

३१ दिसम्बर १६०६ तक इस नहर के बनाने में कुल ३६,७४,६०,५२० रुपये ख़र्च हुए थे। पर जहाँ इसके बनाने का ख़र्च इतना बढ़ा है, वहाँ इससे आमदनी भी खूब बढ़ी है और हर साल बढ़ती जाती है। १८७६ में इससे १,८७,०४,८१४ रुपये की आमदनी हुई थी। वही बढ़कर १६०६ में ६,७१,६३,४७२ रुपये हो गई। अर्थात् तीस वर्षों में चौगुनी के लगभग हो गई। जिस कम्पनी के अधिकार में यह नहर है, उसके हिस्सेदार इससे खूब लाभ उठाते हैं। पहले की अपेक्षा उनका लाभ पाँच छः गुना अधिक हो गया है। इस अधिक आमदनी का कारण यह है कि इस नहर के रास्ते बहुत जहाज़ निकलते हैं। अकेले १६०६ ईसवी में ३६७५ जहाज़ इससे होकर निकले थे।

अरब का रेगिस्तान संसार में प्रसिद्ध है। यह नहर उससे बहुत दूर नहीं है। इसलिए नहर के अधिकारियों को सदा

डर लगा रहता है कि ऐसा न हो कि रेगिस्तान की बालू उड़ कर नहर को तोप दे। इसलिए नहर के पेंदे की खुदाई और सफ़ाई का काम बारहों महीने जारी रहता है। १६०४ से ०६ तक, तीन वर्षों में, कितनी मिट्टी खोद कर बाहर फेंक दी गई, यह नीचे लिखे हुए अङ्कों से स्पष्ट हो जायगा—

१६०४	१३,५३,४६७	घन गज़
१६०५	१७,६०,८६४	घन गज़
१६०६	१६,१६,५१५	घन गज़

सन् १६०४ में नहर की कम से कम गहराई अट्ठाईस फुट थी। इससे वे जहाज़ जो पानी के नीचे अधिक से अधिक छब्बीस फुट तक रहते थे, आसानी से आ जा सकते थे। इसी साल बारह नाके नये बनाये गये, जिनसे आमने-सामने आने जानेवाले जहाज़ एक दूसरे को अच्छी तरह पार कर सकें। इसी तरह के इक्कीस नाके और बनाने की तजवीज़ है। इनमें से हर एक नाका २४६० फुट लम्बा होगा।

१६०४ में जब नहर की चौड़ाई पचास फुट बढ़ाई गई थी, ता कि उसके पेंदे की चौड़ाई १४७ फुट की जा सके, तब १८८६,२७५ घन गज़ ज़मीन, और १८,६३,६४६ घन गज़ पेंदा खोदा गया था।

जब कभी जहाज़ डूब या धँस जाते हैं, तब नहर के अधिकारियों को बड़ी मुशकिल पड़ती है; क्योंकि रास्ता रुक जाता है और इधर-उधर के जहाज़ आ जा नहीं सकते।

जर्मनी ने अभी हाल में जहाज़ डुबो कर इस नहर से अँगरेज़ों के जहाज़ों का आवागमन बन्द करने की चेष्टा की थी, पर वह निष्फल हो गई। पहले की अपेक्षा इस नहर में अब दुर्घटनायें कम होती हैं। इसका कारण यह है कि नहर की चौड़ाई और गहराई बढ़ गई है और जहाज़ों के आने जाने का प्रबन्ध भी पहले से अच्छा हो गया है। १८०५ ईसवी में एक ऐसी ही दुर्घटना हुई थी जिस से कम्पनी को बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। चेथम नामक जहाज़, एक दूसरे जहाज़ से लड़ जाने से, नहर के बीचों-बीच डूब गया। इससे कई दिन तक जहाज़ों का आना जाना बन्द रहा। सब मिलाकर १०६ जहाज़ चार दिन तक रुके रहे। इनमें से ५३ उत्तर की तरफ के थे और ५६ दक्षिण की तरफ़ के। बड़ी मुशकिल से बड़ी बड़ी पर्वताकार कलों के द्वारा जहाज़ जब हटाया गया, तब कहीं निकलने का रास्ता हुआ।

नहर को चौड़ी और गहरी करने का काम १६०४ से कई वर्ष तक बराबर जारी रहा। हर साल लाखों गज़ मिट्टी खोद खोद कर बाहर फेंकी गई। पहली जनवरी १६०६ तक नहर की गहराई साढ़े चौंतीस फुट हो गई थी। अब वे जहाज़ भी, जो पानी के नीचे २८ फुट तक रहते हैं, इस नहर से आ जा सकते हैं। इस गहराई को कम न होने देने के लिए खुदाई का काम बराबर जारी रहेगा। इसके लिए नई तरह के खोदने-वाले यन्त्र काम में लाये जायँगे।

जब से ईजिप्ट की राजधानी केरो से सईद बन्दर तक रेल बन गई है, तबसे सईद बन्दर पर काम बहुत बढ़ गया है। क्योंकि ईजिप्ट का सब माल वहीं उतरता-चढ़ता है। इसलिए कई नये बन्दरगाह बनाने की जरूरत पड़ी है। इनमें से एक तो शीघ्र ही तैयार होनेवाला है। बाक़ी इसके बाद बनाये जायँगे। इसके लिए ईजिप्ट की गवर्नमेंट ने ३५८ एकड़ ज़मीन नहर के अधिकारियों को दी है। दूसरी ओर अर्थात् एशिया की तरफ़ भी, कई बन्दरगाह, कोठियाँ और गोदाम बननेवाले हैं; क्योंकि योरप और एशिया की आमद-रफ़्त दिन पर दिन बढ़ती जाती है।

नहर की उन्नति का काम धड़ाधड़ जारी है। १८९६ से अब तक २,१६,००,००० रुपये नहर को चौड़ा और गहरा करने में लगे हैं। नहर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बीस से अधिक स्टेशन बन गये हैं। टेढ़ी मेढ़ी और ऊँची नीची जगह बराबर कर दी गई है। तीन तीन मील की दूरी पर जहाज़ों के एक दूसरे को पार करने के लिए नाके बनाये गये हैं। इस बीच में नहर के नौकरों की दशा भी बहुत सुधर गई है। वहाँ मच्छड़ और बुख़ार की इतनी अधिकता थी कि लोग उन के मारे बारहों मास तङ्ग रहते थे। पर अब उनका कहीं नामो-निशान नहीं। पहले की अपेक्षा अब वहाँ सफ़ाई भी खूब रहती है। एक बड़ा भारी अस्पताल और कई औषधालय भी खोले गये हैं। वहाँ लोगों की चिकित्सा मुफ़्त की जाती है।

नहर के अधिकारियों की आमदनी जैसे जैसे बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे महसूल भी कम होता जाता है। शुरू में जब नहर खुली थी, तब भरे हुए माल के जहाज़ों का महसूल छः रुपये फ़ी टन (सवा सत्ताईस मन) था। सन् १८८० में तीन आने टन कम हो गया; अर्थात् पाँच रुपये तेरह आने टन रह गया। कुछ दिनों बाद महसूल और भी घटा कर साढ़े चार रुपये टन कर दिया गया, जो इस समय तक बना हुआ है। मुसाफ़िरी जहाज़ों का महसूल छः रुपये टन जैसा पहले था, वैसा ही अब भी है। कम्पनी का रिज़र्व फण्ड (अलग रख दिया गया धन) इस समय २,५०,००,००० रुपये है। इसके सिवा एक विशेष फण्ड और भी है, जिससे नहर की मरम्मत और उन्नति के लिए यन्त्र आदि ख़रीदे जाते हैं। इस फण्ड में इस समय १,८०,००,००० रुपये हैं।

ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए यह नहर बड़े हो काम की चीज़ है। इसी से इसकी रक्षा प्राण-पण से की जा रही है।

[जनवरी १९१५.

२१

माइसोर में सोने की खानें

दक्षिणी भारतवर्ष में माइसोर नाम का एक बहुत बड़ा देशी राज्य है। वह अन्य देशी राज्यों की अपेक्षा अधिक उन्नत, सुशिक्षित और सुसभ्य समझा जाता है। उसमें सोने, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं की कितनी ही खानें हैं। उनमें से वहाँ के कोलर ज़िले की सोने की खानें बहुत प्रसिद्ध हैं। आज हम उन्हीं का वृत्तान्त पाठकों को सुनाते हैं।

मद्रास से माइसोर को जो रेलवे लाइन गई है, उसमें बाइरिंग पेंट नाम का एक स्टेशन है। इस स्टेशन से कोलर की खानों तक रेलवे की एक शाखा गई है। बाइरिंग पेट से खानें दस मील की दूरी पर हैं। कोलर की खानें पाँच मील के घेरे में फैली हुई हैं। इस स्थान पर बहुत सी खानें हैं। पर इनमें से माइसोर और चैम्पियन-रीफ़ नाम की खानें बहुत प्रसिद्ध हैं। इनसे लाभ भी खूब होता है। कोलर की खानों से सब मिला कर कोई तीस बत्तीस मन सोना प्रति मास निकलता है। माइसोर गवर्नमेंट इसमें से पाँच प्रति सैकड़ा राज-कर लेती है। इस मद से उसे कोई चौदह लाख रुपये प्रति

वर्ष प्राप्त होते हैं। माइसोर और चैम्पियन-रीफ़ नाम की खानों के हिस्सेदारों को प्रति सैकड़ा डेढ़ सौ वात्सरिक लाभ होता है। अर्थात् हिस्सेदारों को एक ही वर्ष में अपने मूल धन का ड्योढ़ा लाभ हो जाता है।

सोने के सिवा अन्य धातुओं में भिन्न भिन्न कई रासायनिक पदार्थ मिले रहते हैं। परन्तु सोने में किसी चीज़ की मिलावट नहीं रहती। संसार की कितनी ही खानों में सोने के बड़े बड़े टुकड़े निकलते हैं; पर कोलर की खानों में सोने के बड़े बड़े टुकड़े, नहीं पाये जाते। हाँ, छोटे छोटे टुकड़े, समय समय पर अवश्य मिलते हैं। पर अधिकांश सोना कणों के रूप में पत्थर की रेणु के साथ मिला हुआ रहता है। इन प्रस्तर-रेणु-मिश्रित कणों को अङ्गरेज़ी में कार्ट्ज (Quartz) कहते हैं। इन कणों को खानों के भीतर से निकालना और उन्हें पत्थर की रेणु से अलग करना खानवालों का मुख्य काम है। ये क्वार्ट्ज़ कोलर की खानों में तीन सौ से लेकर दो हज़ार फुट की गहराई तक पाये जाते हैं।

वहाँ की प्रत्येक खान में नीचे जाने के लिए चार पाँच कुवें हैं। इन कुओं में लोहे का एक सन्दूक़ रहता है। वह कल की सहायता से चलता है। उसी में बैठकर लोग ऊपर नीचे जाते आते हैं। इसके सिवा पत्थर मिले हुए सोने के कण भी इन्हीं में रख कर ऊपर भेजे जाते हैं।

खानों के भीतर दिन को भी अँधेरा रहता है। खान खोदने-

वाले अपने सिर में मोमबत्ती खोंस कर काम करते हैं। कोयले की खानों में गैसों के जल उठने का जैसा डर रहता है, वैसा सोने की खानों में नहीं। इसलिए उनमें सेफ्टी लैम्पों की कोई आवश्यकता नहीं। जिन लैम्पों से आग लग जाने का डर नहीं होता, उन्हें सेफ्टी लैम्प कहते हैं। सोने की खानों का नीचे का भाग लोहे की खानों की तरह बहुत लम्बा चौड़ा नहीं होता। खानों के जिस तरफ़ क्वार्ट्ज़ पाये जाते हैं, केवल उसी तरफ़ सुरङ्ग कर लिया जाता है।

जिन खानों के प्रस्तर-रेणु में कम से कम इतना सोना मिलने की आशा होती है कि सब ख़र्च निकाल कर कुछ लाभ हो, उन्हीं खानों से पत्थर की बालू निकाली जाती है। बालू को बाहर निकाल कर कल-घर में भेजते हैं। वहाँ वह पीस कर मैदे की तरह बना दी जाती है। इस मैदे में सोने के कण भी मिले रहते हैं। सोने के इन कणों को पत्थर की रेणु से अलग करने के लिए पहले वह पानी में घोली जाती है। इसके बाद वह पानी बड़े बड़े बरतनों में रक्खे हुए पारे के ऊपर डाल दिया जाता है। इस समय एक अङ्गरेज़ कर्मचारी पानी और पारे को ख़ूब हिलाता मिलाता है। फल यह होता है कि सोने की रेणु पारे में मिल जाती है और पत्थर की बालू मिला हुआ पानी ऊपर उतराता रहता है। थोड़ी देर बाद वह पानी बाहर फेंक दिया जाता है। यह क्रिया कई बार दुहराई तिहराई जाती है। यहाँ तक कि पत्थर के मैदे का सम्पूर्ण सोना पारे में मिल

जाता है। इसलिए पारा खूब गाढ़ा हो जाता है। इस गाढ़े पारे को अङ्गरेज़ी में एमलगाम (Amalgam) कहते हैं। इस गाढ़े पारे में खूब सोना मिला रहता है। इस समय इस एमलगाम को रासायनिक गृह में ले जाते हैं। वहाँ पारे से सोना अलग किया जाता है। यदि सोने में कोई अन्य पदार्थ भी मिला होता है तो वह भी यहाँ अलग कर दिया जाता है। इसके बाद इस खरे सोने की छोटी छोटी ईंटें बनाई जाती हैं। इन ईंटों पर उस खान का नाम और नम्बर अङ्कित किया जाता है जिनमें वे बनी हैं।

कोलर की खानों से निकला हुआ सोना ख़ास कोलर या भारतवर्ष के किसी स्थान में नहीं बिकता। वह सीधे इंगलैंड भेज दिया जाता है। कई साल हुए, एक बार प्रस्ताव किया गया था कि बम्बई की टकसाल ही में इस सोने के सावरेन सिक्के बना करें। यदि ऐसा हो जाता तो यह सोना बम्बई में ही खप जाता; पर इस प्रस्ताव पर सरकार ने कुछ ध्यान न दिया।

रेलवे की जिस गाड़ी में कोलर का सोना बम्बई तक जाता है, वह बड़ी चतुरता और मज़बूती से बनाई गई है। लोहे का सन्दूक, जिस में सोना रक्खा जाता है, गाड़ी के साथ जुड़ा होता है। इस गाड़ी पर पहरा देने के लिए दो शस्त्रधारी गार्ड सदा मौजूद रहते हैं।

कोलर की खानों में चोरियाँ खूब होती हैं। चोर ऐसी

सफ़ाई से चोरी करते हैं कि उनको सहसा पकड़ना कठिन है। परन्तु तब भी बहुधा चोर पकड़ लिए जाते हैं। यह न समझिए कि केवल भारतवासी कुली-मज़दूर ही इन खानों में चोरी करते हैं। खानों में काम करनेवाले बड़े बड़े विदेशी कर्मचारी भी चोरी करते हैं।

देशी राज्य में होने पर भी ये खानें अँगरेज़ों के अधीन हैं। उन्हीं के मूल धन से ये खानें खोदी जाती हैं और हानि-लाभ के भी वही मालिक हैं। इसलिए वहाँ पर कितने ही अँगरेज़ काम करते हैं। इनके कारण माइसोर दरबार, ब्रिटिश गवर्नमेंट और मदरास हाई कोर्ट को कभी कभी बड़े झंझट में पड़ना पड़ता है। किसी देशी राजा में यह शक्ति नहीं कि वह किसी अँगरेज़ का विचार कर सके। इसलिए कोलर की खानों के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट की ओर से एक ख़ास मैजिस्ट्रेट नियुक्त है। उसे जस्टिस आव् दी पीस (Justice of the Peace) कहते हैं। ये लोग राजा के नौकर हैं। पर इस हैसियत से ये अङ्गरेज़ अपराधियों का विचार नहीं कर सकते। ब्रिटिश गवर्नमेंट के द्वारा नियुक्त जस्टिस आव् दी पीस होने के कारण ये अङ्गरेज़ों के छोटे छोटे अपराधों का विचार करते हैं। बड़े बड़े अपराधों का विचार मदरास हाई कोर्ट करती है। खान के मालिकों के अनुरोध से माईसोर गवर्नमेंट ने यह क़ानून बना दिया है कि खान के मालिक और कर्मचारियों के सिवा अन्य किसी मनुष्य के पास यदि कोई खनिज पदार्थ

मिलेगा तो वह चोर या चोरी का माल लेनेवाला समझा जाकर क़ानून के अनुसार दण्ड पावेगा।

कोलर की खानों में अकसर देशी और विदेशी दोनों ही चोरी करते हैं। दोनों पर मुक़द्दमा भी चलाया जाता है। पर न्याय जैसा होना चाहिए, वैसा ही होता है। एक उदाहरण सुनिए। एक दिन एक साहब ने अपनी टोपी में स्वर्ण-मिश्रित पारा चुराया। जस्टिस आव् दी पीस ने माईसोर के क़ानून के अनुसार उसे दण्ड दिया। परन्तु साहब ने मदरास हाई कोर्ट में अपील की। हाई कोर्ट के जजों ने राय दी कि हाकिम ने इस मुक़द्दमे का विचार जस्टिस आव् दि पीस की हैसियत से किया है। जस्टिस आव् दि पीस भारत-गवर्नमेंट का नौकर है। उसमें यह शक्ति नहीं कि वह माईसोर के आईन के अनुसार किसी को दण्ड दे। अतएव चोर साहब छोड़ दिये गये।

खान से लाखों रुपये का सोना प्रति दिन निकलता है। चोरों की भी वहाँ कमी नहीं है। अतएव माल की रक्षा करने के लिए माईसोर गवर्नमेंट की ओर से बहुत सी पुलिस नियुक्त है। इधर खान के मालिकों ने भी एक उच्च-पदस्थ और अनुभवी अङ्गरेज़ को पुलिस का अध्यक्ष बना रक्खा है। इसके सिवा जासूसों और चौकीदारों की भी वहाँ कमी नहीं।

खानों में पत्थर की कुछ ऐसी बालू होती है जिसमें बहुत कम सोना होता है। इस बालू से साधारण रीति से सोना निकालने में इतना अधिक ख़र्च पड़ता है कि लाभ की जगह

हानि होती है। अतएव यह बालू बेकार पड़ी रहती थी, इससे सोना न निकलता था। परन्तु कुछ दिनों से एक ऐसी तरकीब निकली है कि पत्थर की इस बालू से भी सहज में सोना निकल आता है और ख़र्च भी बहुत कम पड़ता है। इससे अब कई साल से कोलर की खानों से लाभ बहुत कुछ बढ़ गया है। इस तरकीब से पत्थर की उस रेणु से भी सोना निकाला जा सकता है जो पारे के ऊपर उतरा आने पर पानी के साथ फेंक दी जाती थी।

यद्यपि आज-कल कोलर की खानों से मनों सोना नित्य निकलता है, तथापि यह व्यापार नया नहीं। यहाँ की खानों में ऐसे अनेक चिह्न पाये जाते हैं जिन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भी ये खानें खोदी जाती थीं। आज-कल ये खानें कल की सहायता से खोदी जाती हैं। पर प्राचीन काल के हिन्दुओं ने कल की सहायता के बिना ही इन्हें तीन सौ फुट की गहराई तक खोद डाला था।

आधुनिक काल में सब से पहले माइकेल लावेली नाम के एक अङ्गरेज ने इन खानों को खोदने का ठेका लिया था। इसके बाद कई अङ्गरेज़ी कम्पनियों ने इस काम को लिया; परन्तु वे दो सौ फुट से अधिक नहीं खोद सकीं। इसलिए उनका दिवाला बहुत जल्द निकल गया। माईसोर नाम की केवल एक कम्पनी ने हिम्मत न हारी। उसका मैनेजर बड़ा चतुर आदमी था। उसने समझ लिया था कि कुछ और नीचे

सोना अवश्य मिलेगा। उस समय इस कम्पनी के १५ रुपये के हिस्से का मूल्य केवल दस आने रह गया था। अधिकांश हिस्सेदार कम्पनी को तोड़ देना चाहते थे। परन्तु मैनेजर के ज़ोर देने पर कुछ मूल-धन और बढ़ाया गया। खोदते खोदते कुछ दिनों बाद एक ऐसा स्थान मिला जहाँ खूब सोना था। बस फिर क्या था! कम्पनीवाले खुशी से फूल उठे। मैनेजर ने आनन्द-मग्न होकर इस स्थान का नाम रक्खा—चैम्पियन रीफ़। पन्द्रह रुपये के जिस हिस्से का दाम पहले केवल दस आने था, उसका मूल्य इस समय पूरे दो सौ रुपये है। इस स्थान से जो सोना निकलता है, वह बहुत ही खरा और चमकदार होता है।

कोलर में जिस जगह सोने की ये खाने हैं, वह जगह बड़ी ही अनुर्वर है। उसे यदि प्रस्तरमय मरु-भूमि कहें तो कुछ अत्युक्ति नहीं। परन्तु आज-कल वहाँ रेलवे, टेलीग्राफ़, टेलीफ़ोन, बिजली की रोशनी, ट्रामवे, होटल, बाजार, दूकानें आदि सभी कुछ हैं। हज़ारों आदमी वहाँ पर नौकरी आदि के द्वारा जीविका चलाते हैं। इस पाँच मील लम्बी और एक मील चौड़ी मरु-भूमि से माइसोर गवर्नमेंट पूरे चौदह लाख रुपये राज-कर स्वरूप प्राप्त करती है। इसके सिवा गोल्ड-फील्ड रेलवे से भी उसे ख़ासी आमदनी होती है।

[अप्रेल १९१५.

२२

निष्क्रिय प्रतिरोध का परिणाम

राजा चाहे अपनी प्रजा को सुखी रक्खे, चाहे दुःखी। जिस प्रकार सन्तान की रक्षा का भार माता-पिता पर रहता है, उसी प्रकार प्रजा की रक्षा का भार राजा पर। दक्षिणी अफ़रीक़ा में भारत की जो प्रजा बस गई है, वह वहाँ के शासकों के सर्वथा अधीन है। खेद को बात है, उनके सत्वों की बहुत कम रक्षा उन लोगों ने अब तक की है। गत आठ वर्षों से उन्हें अनेक प्रकार की तकलीफ़ें मिल रही थीं। अब कहीं, इतने समय बाद उन्हें दाद मिली है। इसका मुख्य श्रेय श्रीयुत गांधी को है। वहाँवाले चाहते थे कि भारतवासी वहाँ न रहें। रहें भी तो उनके बराबर नागरिकता का अधिकार वे प्राप्त न सकें; केवल कुली बन कर रहें।

पहले-पहल जब अँगरेज़ लोग अफ़रीक़ा में आबाद हुए, तब वहाँ बहुत सी ज़मीन बनजर पड़ी थी। वहाँ के प्राचीन निवासी, काफ़िर और अन्य जाति के हबशी, खेती करना न जानते थे। अतएव बसनेवाले अँगरेज़ों ने सोचा कि यदि यहाँ मिहनती और कम मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर कहीं से आ सकें तो बड़ा लाभ हो।

अँगरेज़ों का अधिकार पहले-पहल केप कालनी पर हुआ, फिर नटाल पर।

ट्रान्सवाल और आरेंज-फ्री-स्टेट में यूरप के कई देशों के बहुत से लोग बस गये थे। उनमें डच और फ्रेञ्च मुख्य थे। उन लोगों को भी मज़दूरों की ज़रूरत थी। केप कालनी में अङ्गरेज़ों का एक गवर्नर रहता था। सर जार्ज ग्रे जिस समय वहाँ के गवर्नर थे, उस समय केप कालनी में रहनेवाले अङ्गरेज़ों की प्रार्थना पर सर जार्ज ने इंगलैंड को लिखा कि भारत से कुछ मज़दूर वहाँ भेज दिये जायँ तो अच्छा हो। इंगलैंड ने भारत को यही बात लिखी। इस पर भारत के बड़े लाट ने हिन्दुस्तानी मज़दूरों के सुभीते के लिए बहुत सी शर्तें कीं। उनको केप कालनीवालों ने मञ्जूर कर लिया। इन्हीं शर्तों के अनुसार अफ़रीक़ा जाकर भारत के मज़दूर मज़दूरी करने लगे। पहले तीन, फिर पाँच वर्ष में उनकी शर्तें पूरी हो जाती थीं। तब वे स्वतन्त्र हो जाते थे। स्वतन्त्र होकर वे वहाँ बस जाते और वाणिज्य-व्यवसाय आदि करने लगते थे। उनके बसने के लिए वहाँ की सरकार उन्हें ज़मीन भी मुफ्त ही दिया करती थी। और भी अनेक सुभीते उन्हें थे। असल में वहाँ की सरकार का अभिप्राय यह था कि इन मज़दूरों के वहाँ बस जाने से अफ़रीक़ा आबाद भी हो जायगा और वहाँ के व्यवसायियों के लिए परिश्रमी और सीधे-सादे मज़दूर भी मिलने लगेंगे। इसी से सैकड़ों लोग केप कालनी में बस गये। नटाल,

ट्रांसवाल और आरेंज-फ्री-स्टेट में भी वे पहुँचे और धीरे धीरे बस गये। मज़दूरी छोड़ने पर वे लोग स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं भी व्यापार और खेती करने लगे।

१८६० ईस्वी में भारत से पहले-पहल मज़दूर भेजे गये थे। इन मज़दूरों ने अफ़रीक़ा में बहुत सन्तोषजनक काम किया। अफ़रीक़ावाले इनके परिश्रम और इनकी कार्य-दक्षता पर बड़े प्रसन्न हुए। पर कारणवश यह शर्त-बन्दी, १८६६ ईसवी में, तोड़ दी गई। शर्तबन्दी टूटते ही अफ़रीक़ा में फिर मज़दूरों की कमी हो गई। अतएव १८७७ ईसवी से फिर हिन्दुस्तानी मज़दूर अफ़रीक़ा जाने लगे। तबसे दस पन्द्रह वर्षों तक अफ़रीक़ा में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को सब तरह से आराम रहा।

कुछ समय बाद ट्रान्सवाल-वालों को भारतीयों का वहाँ रहना खटकने लगा। अपनी मिहनत और अपनी किफ़ायत-शारी से भारतवासी खेती और व्यापार आदि से बहुत रुपया पैदा करने लगे थे। इससे ट्रांसवालवालों ने अपनी हानि समझी। अतएव उन्होंने १८८५ ईसवी में एक क़ानून बनाकर हिन्दुस्तानियों का विरोध आरम्भ किया। क़ानून यह बना कि कोई भी भारतवासी यदि वहाँ व्यापार के लिए रहना चाहे तो उसे एक नियत फ़ीस देकर अपना नाम रजिस्टरी कराना पड़ेगा। साथ ही सफ़ाई के लिहाज़ से हिन्दुस्तानियों ही को नहीं, सारे एशियावासियों को शहर के बाहर एक नियत स्थान पर रहना पड़ेगा।

धीरे-धीरे नेटाल में भी यही हवा चली। वहाँ भी १८९४ में, हिन्दुस्तानियों का हित-विरोध आरम्भ हो गया। पहले केवल हिन्दुस्तानी मज़दूर ही अफ़रीक़ा जाते थे। जब यहाँ से व्यापारी और व्यवसायी लोग भी वहाँ जाने लगे, तब वहाँ के रहने-वालों को यह बात असह्य सी हो गई। उन्होंने काले और गोरे में भेद रखना चाहा। इस विषय का एक कानून वे बनाने लगे। वह यदि बन जाता तो हिन्दुस्तानियों का नेटाल जाना एक दम ही बन्द हो जाता। पर प्रसिद्ध राजनैतिक मिस्टर चेम्बरलेन के उद्योग से वह क़ानून न बन सका। उसके बदले एक ऐसा क़ानून बना जिसमें शिक्षा-विषयक एक शर्त रक्खी गई। शर्त यह थी कि जिस भारतवासी की शिक्षा की इयत्ता अमुक हो, वही वहाँ जा सके। नेटाल में यह क़ानून १८९७ ईसवी में "पास" हुआ। बस, तभी से नटाल में हिन्दुस्ता-नियों के दुःखों का आरम्भ हुआ—तभी से हिन्दुस्तानियों के सत्वों पर आघात आरम्भ हुआ। उधर ट्रान्सवाल में तो उनकी पहले ही से दुर्गति हो रही थी।

ट्रान्सवाल में ब्रोअरों के साथ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट की लड़ाई छिड़ी, तब यह आशा हुई कि सरकार के विजयी होने पर हिन्दुस्तानियों का दुःख दूर हो जायगा। पर यह आशा व्यर्थ हो गई। तब से उनके दुःख-कष्ट और भी बढ़ गये।

बोअरों के राज्य में नाम रजिस्टर कराने और ४५ रुपया वार्षिक कर देने का कोई क़ानून न था। पर, उनका राज्य जाने

पर यह क़ानून जारी हुआ कि जो नाम दर्ज कराने के लिए ४५ रुपये न दे, उसे १५० से १५०० रुपये तक जुर्माना और १४ दिन से ६ महीने तक की सजा भुगतनी पड़े। पहले लैसन्स लेकर ट्रांसवाल भर में एशियावासी व्यापार कर सकते थे। अब वही लोग ऐसा कर सकते थे जिनके पास लड़ाई के पहले के लैसन्स थे। नये व्यापारियों को शहर के बाहर एक ख़ास जगह पर ही व्यापार करने या दूकान खोलने के लिए लैसन्स मिलने लगे। हिन्दुस्तानियों को शहर के बाहर एक नियत जगह पर रहने का तो हुक्म था ही, अब यह भी हुक्म हुआ कि वे कोई जायदाद न ख़रीदें और बिना आज्ञा के एक स्थान से दूसरे स्थान को न जायँ। उनके नाम-धाम की ख़बर रखने के लिए हर शहर में पुलिस एक रजिस्टर रखने लगी।

इसके बाद हिन्दुस्तानियों पर एक और भी विपत्ति आई। लार्ड मिलनर ने आज्ञा दी कि हिन्दुस्तानियों को फिर से अपना नाम रजिष्टर कराना आवश्यक होगा। पर उन्होंने विश्वास दिलाया कि एक बार हो जाने पर फिर कभी रजिष्टरी न होगी। जिसको रजिष्टरी का प्रमाणपत्र मिल जायगा, वह चाहे जहाँ ट्रांसवाल भर में व्यापार कर सकेगा।

१८८५ ईसवी-वाला पहला क़ानून भारतवासियों को सता ही रहा था; इस दूसरे क़ानून ने भी उनकी शान्ति में बड़ी बाधा पहुँचाई। उन्होंने इसी कारण वहाँ की सबसे बड़ी अदालत में इस आज्ञा के विरुद्ध मुक़दमा दायर कर दिया।

जजों ने मुकद्दमे का फैसिला यह किया कि हिन्दुस्तानी चाहे जहाँ व्यापार कर सकते हैं। उन्हें शहर के बाहर किसी नियत स्थान में न रहने के कारण क़ानूनन् कोई सज़ा नहीं दी जा सकती।

यह फ़ैसला हिन्दुस्तानियों के विरोधियों को बहुत ही बुरा लगा। उन्होंने इस फ़ैसले को रद्द कराने की खूब चेष्टा की। पर, उपनिवेशों के सेक्रेटरी, लार्ड लिटलटन, के ज़ोर देने पर उनका वह प्रयत्न उस समय व्यर्थ गया।

इसके बाद ट्रांसवाल-वालों ने यह शोर मचाया कि झुण्ड के झुण्ड हिन्दुस्तानी ट्रांसवाल में घुसे चले आते हैं। धीरे-धीरे उनका यह स्वर और भी ऊँचा हो चला। इतने ही में जोन्सबर्ग नामक नगर के हिन्दुस्तानियों के निवास-स्थान में प्लेग फूट पड़ा। इस कारण वहाँ के हिन्दुस्तानी सारे ट्रांसवाल में फैल गये। ट्रांसवाल-वालों को यह अच्छा मौक़ा मिला। इस पर उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि नये भारत-वासियों को वहाँ न घुसने देना चाहिए। जो हैं, उन्हें शहर के बाहर रखना चाहिए और वहीं उन्हें वनिज-व्यापार की अनुमति होनी चाहिए।

हिन्दुस्तानियों ने यह देख कर, एक कमीशन के द्वारा अपने दुःखों की जाँच की जाने की प्रार्थना सरकार से की। पर वह न सुनी गई।

अन्त में १९०६ ईसवी में एक क़ानून बना। उसके अनु-

सार हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुषों और बच्चों तक को फिर से नाम रजिष्टर कराने की आज्ञा हुई।

हिन्दुस्तानियों ने इस विपत्ति से बचने की पूरी चेष्टा की। उनकी प्रार्थना पर केवल स्त्रियाँ उक्त क़ानून के पंजे से मुक्त हो सकीं; और कुछ न हुआ।

तब जोन्सवर्ग में हिन्दुस्तानियों ने एक बड़ी भारी सभा की। उसमें सभी ने मिलकर यह प्रतिज्ञा की कि जब तक ऐसे दुःखदायी क़ानून रद्द न किये जायँ, तब तक उन्हें कोई न माने। बस, इसी समय से हिन्दुस्तानियों के निष्क्रिय-प्रतिरोध (Passive Resistance) का आरम्भ हुआ। उनके कई प्रतिनिधि इँगलैंड भी पहुँचे। वहाँ उस क़ानून पर विचार करने के लिए एक कमिटी बनी। कमिटी के उद्योग से इस क़ानून का जारी होना थोड़े दिनों तक के लिए मुलतवी रहा। इस बीच में हिन्दुस्तानियों के मुखिया लोगों ने गवर्नमेंट से यह कहा कि हम खुशी से अपने नाम रजिस्टर करा देंगे, आप इस क़ानून को जारी न कीजिए; पर कुछ फल न हुआ। क़ानून का मसविदा ट्रांसवाल की पार्लियामेंट में पेश हुआ और पास भी हो गया। १६०७ ईसवी में जब से यह क़ानून जारी हुआ, तभी से हिन्दुस्तानियों ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार निष्क्रिय-प्रतिरोध का प्रारम्भ किया। इस कारण सैंकड़ों को नहीं हज़ारों को जेल जाना पड़ा। पर वे लोग अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हुए।

इस पर क़ानून का बनाया जाना व्यर्थ हुआ देख सरकार ने यह निश्चय किया कि यदि हिन्दुस्तानी इच्छानुसार अपने नामों की रजिस्टरी करा लें तो यह क़ानून जारी न किया जायगा। पर हिन्दुस्तानियों ने निष्क्रिय-प्रतिरोध बन्द न किया। सरकार और भी चिढ़ गई। उसने एमिग्रेशन एक्ट नाम का एक और क़ानून जारी कर दिया। इसके कारण शिक्षित भारतवासियों का ट्रांसवाल में घुसना असम्भव सा हो गया।

तब वे लोग इच्छानुसार रजिष्टरी करा लेने पर राज़ी हो गये। सुनते हैं, उनसे गवर्नमेंट ने कहा कि रजिष्टरी करा लो; क़ानून मंसूख़ हो जायगा। पर रजिष्टरी हो चुकने पर भी क़ानून ज्यों का त्यों रहा। इस पर हिन्दुस्तानियों ने और भी दृढ़ता के साथ निष्क्रिय-प्रतिरोध करना आरम्भ किया।

नेटाल के हिन्दुस्तानी भी ट्रांसवालवाले अपने भाइयों से आकर मिल गये। फिर एक भारी सभा हुई। सभा में क़ानून न मानने की प्रतिज्ञा हुई। उधर सरकार ने भी हिन्दुस्तानी नेताओं को देश से निकाल देने का विचार पक्का किया। फल यह हुआ कि सैकड़ों हिन्दुस्तानी ट्रांसवाल से हिन्दुस्तान को भेज दिये गये। क़ानून न माननेवाले सैकड़ों आदमी जेलों में ठूस दिये गये। स्थिति बड़ी भयङ्कर हो गई। हिन्दुस्तानी अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ़ हो गये। स्त्रियाँ तक जेल जाना अपना कर्तव्य समझने लगीं। अपने पतियों और भाइयों को वे निष्क्रिय-प्रतिरोध जारी रखने के लिए उत्साह दिलाने लगीं।

१९०६ ईसवी में हिन्दुस्तानियों ने अपना एक प्रतिनिधि-दल हिन्दुस्तान को और दूसरा इँगलैंड को भेजना चाहा। वे दोनों दल रवाना होने ही वाले थे कि सरकार ने उन्हें पकड़ लिया और दल के सभी सभ्यों को जेल भेज दिया। पर हिन्दुस्तानियों ने, कुछ समय बाद, अपना एक प्रतिनिधि-दल इँगलैंड भेज ही दिया। उसने वहाँ पहुँच कर खूब आन्दोलन किया।

हिन्दुस्तान को अकेले मिस्टर पोलक ही भेजे गये। उन्होंने यहाँ श्रीयुत गोखले की भारत-सेवक-समिति (Servants of India Society) की सहायता से प्रजा-मत को खूब जाग्रत किया। सहायता भी उन्हें खूब मिली। रतन जे० ताता नामक प्रसिद्ध पारसी सज्जन ने अपने भाइयों को धन द्वारा अच्छी सहायता दी।

हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट के ज़ोर देने पर, विलायत की बड़ी सरकार ने बीच में पड़कर देश-निकाले की सज़ा पाये हुए हिन्दुस्तानियों को फिर ट्रांसवाल लौट जाने की आज्ञा दिलाई। इस बीच में बेचारे हिन्दुस्तानियों को अनन्त यातनायें भोगनी पड़ीं।

इसके बाद केप कालोनी, नेटाल, ट्रांसवाल और आरेञ्ज-फ्री-स्टेट ये चारों प्रदेश एक में जोड़ दिये गये और सबके ऊपर एक गवर्नर जनरल नियत हुआ। सब का नाम हुआ—सम्मिलित राज्य। तब, १९१० ईसवी में, ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सम्मिलित राज्य की सरकार को लिखा कि १९०७ ईसवी

वाला क़ानून रद्द कर देना चाहिए। पर वह रद्द न हुआ। उसमें कुछ परिवर्तन मात्र कर दिया गया।

वास्तव में जाति-भेद दूर कर देना गोरों को पसन्द न था। इसी से वे कभी कुछ बहाना कर देते, कभी कुछ। कभी कोई पख़ लगाई जाती कभी कोई। इस कारण हिन्दुस्तानियों की विपत्ति का पारावार न रहा। उनका विवाह नाजायज समझा जाता। उनकी सन्तति उनकी जायदाद की हक़दार तक न समझी जाती।

अन्त में आजिज़ आकर हिन्दुस्तानियों ने १६१३ के सितम्बर महीने से अपनी घोर निष्क्रिय-प्रतिरोध की लड़ाई नये सिरे से जारी की। हिन्दुस्तान ने भी धन द्वारा उनकी पूरी सहायता की। यह देखकर हिन्दुस्तान की और विलायत की भी गवर्नमेंट ने ज़ोर लगाया। तब हिन्दुस्तानियों के दुःखों की जाँच करने के लिए वहाँ सरकारी अफ़सरों की एक कमिटी बैठी। भारत-गवर्नमेंट के भेजे हुए सर बेंजामिन राबर्टसन भी उसमें शामिल हुए। उन्होंने हिन्दुस्तानियों की शिकायतों की अच्छी तरह जाँच की। उनकी रिपोर्ट हिन्दुस्तानियों के पक्ष में हुई और उनकी अधिकांश शिकायतें दूर कर दी गईं।

इस सम्बन्ध में श्रीयुत गांधी का परिश्रम और अध्यवसाय सर्वथा प्रशंसनीय है। आपने ही अफ़रीक़ा के हिन्दुस्तानियों में जीवन का सञ्चार किया है। आप जूनागढ़ के निवासी हैं। बैरिस्टर हैं। तो भी आप जेल जाने, नाना प्रकार की यातनायें

भोगने और तिरस्कार पाने पर भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुए। आपकी धर्म-पत्नी, आपके सुयोग्य पुत्र—सभी आपके व्रत के व्रती हुए। आपके सहायकों ने भी आपका पूरा साथ दिया। उनमें से मिस्टर पोलक और मिस्टर कालनबाक आदि विदेशी सज्जनों तथा २५०० से ऊपर हिन्दुस्तानियों ने कड़ी जेल की सज़ा भी भुगती।

हमें दक्षिणी अफ़रीक़ा के हिन्दुस्तानियों के मुख-पत्र इंडियन ओपिनियन का एक विशेष अङ्क (Golden Number) मिला है। यह पत्र श्रीयुत गांधी ही का निकाला हुआ है। फ़ीनिक्स नामक स्थान से अँगरेज़ी और गुजराती में निकलता है। उसके इस अङ्क में पूर्वोक्त निष्क्रिय-प्रतिरोध की बड़ी ही हृदय-द्रावक कहानी है। मिस्टर गांधी और अन्यान्य नामी नामी आदमियों की सम्मतियाँ भी हैं। जेल में जाने तथा अन्य प्रकार की सहायता देनेवाले नर-नारियों के छोटे-मोटे १३८ चित्रों से यह अङ्क विभूषित है। यह मिस्टर गांधी के निष्क्रिय प्रतिरोध की यादगार में निकाला गया है। दिव्य है। पढ़ने और संग्रह में रखने की चीज़ है।

पाठकों को यह मालूम ही होगा कि श्रीयुत गांधी अब भारतवर्ष लौट आये हैं।

[अप्रैल १९१५.

२३

भारतवर्ष में नशेबाज़ी

प्रजा को बुराइयों से बचाना और उसे सच्चरित्र बनाना राजा का बहुत बड़ा कर्तव्य है। हर देश का राजा अपने इस कर्तव्य-पालन के लिए उत्तरदाता है। राजा के इस काम से केवल प्रजा ही का उपकार नहीं, राजा का भी बड़ा भारी उपकार है। प्रजा के सच्चरित्र और गुणी होने से देश का शासन बड़ी सरलता से किया जा सकता है। देश में सुख और शान्ति रहती है।

मान लीजिए कि किसी देश या नगर की प्रजा बड़ी उद्दण्ड है; न वह सच्चरित्र है, न गुणी। इस दशा में वहाँ के राजा को अपनी प्रजा के शासन में बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा। मार-पीट, हत्या, चोरी आदि दुष्कर्मों की संख्या बढ़ेगी। सैकड़ों-हज़ारों मुक़द्दमे चलेंगे। देश से शान्ति पलायन कर जायगी।

नशेबाज़ी से प्रजा की सच्चरित्रता को बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है। दुःख की बात है, भारत में नशेबाज़ी की अधिकता है। अशिक्षितों ही पर नहीं, शिक्षितों पर भी इस बुरी बला ने अपना प्रभाव जमा रक्खा है। अनेक शिक्षित और कुलीन बाबू

लोग भी इस व्यसन के दास बन गये हैं। गाँजा, भङ्ग और चरस आदि की भी खूब खपत है। साधु, सन्त और महात्मा कहलानेवाले लोग इन नशीले पदार्थों का निःशङ्क सेवन करते हैं। देश के अनेक होनहार नवयुवक तक नशेबाज़ी की बुरी आदत के कारण अपना सत्यानाश कर रहे हैं।

सन् १९०७ ईसवी के अगस्त में भारतवासियों का एक प्रतिनिधि-दल विलायत पहुँचा। उसने वहाँ जाकर भारत के स्टेट-सेक्रेटरी से प्रार्थना की कि भारत की रक्षा नशेबाज़ी से कीजिए। प्रार्थना में उसने नशेबाज़ी के नाश के अनेक उपाय भी बताये। स्टेट-सेक्रेटरी ने पूर्वोक्त प्रतिनिधि-दल की प्रार्थना के अनुसार भारत-सरकार से इस विषय में पूछ-पाँछ की। इस पर जाँच होती रही। पर उसका परिणाम क्या हुआ, यह बात अज्ञात ही रही।

इतने में, १९१२ ईसवी के जुलाई महीने में, एक प्रतिनिधि-दल लार्ड हार्डिञ्ज के भी पास पहुँचा। बाँकीपुर में एक साल पहले मादकता-निवारिणी सभा (Temperance Society) का जो अधिवेशन हुआ था, उसी में इस प्रतिनिधि-दल के भेजे जाने का निश्चय किया गया था। लार्ड हार्डिञ्ज इस दल से सादर मिले। उसका वक्तव्य सुना और बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण उत्तर दिया।

पूर्वोक्त प्रतिनिधि-दल के प्रार्थना-पत्र में कहा गया—नशीली चीज़ों पर अधिक कर लगाया जाय। इन चीज़ों की बिक्री के

लिए दुकानें खोलने के लैसंसों की संख्या कम कर दी जाय। दुकानें ऐसी जगह खोली जायँ जहाँ बहुत कम लोगों की पहुँच हो। दुकानों के प्रति दिन खुलने और बन्द होने का समय नियत कर दिया जाय, वे बहुत कम समय तक खुली रहें।

इस पर लार्ड हार्डिञ्ज ने प्रान्तीय गवर्नमेंटों से रिपोर्टें तलब कीं। यही सब रिपोर्टें, अन्यान्य आवश्यकीय कागज़ों के साथ, अब पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। इस पुस्तक की मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

१६०१–०२ में आबकारी के महकमे से गवर्नमेंट को ६ करोड़ १७ लाख रुपये की आमदनी हुई थी। पर १६१०–११ में बढ़ कर वह १० करोड़ ५४ लाख रुपये हो गई। अर्थात् १० वर्षों के भीतर ही ४ करोड़ ३७ लाख की वृद्धि हुई। गाँजा, चरस और अफ़ीम आदि से जितनी आमदनी हुई, उससे कहीं अधिक शराब से हुई। देखिए—

	गाँजा, चरस, अफ़ीम आदि रुपया	शराब रुपया
सन् १६०१–०२	१,६३,४१,४८३	४,५१,७६,५१८
सन् १६१०–११	२,६२,५२,४८६	७,८८,०१,७१०

यद्यपि सभी नशीली चीज़ों से अधिक आमदनी हुई, तथापि शराब की आमदनी में बहुत ही अधिक वृद्धि हुई।

गवर्नमेंट का कथन है कि इस बढ़ी हुई आमदनी से यह न समझना चाहिए कि इन चीज़ों का ख़र्च अधिक हुआ। वह कहती है कि नशे की चीज़ों पर अधिक कर का लगाया

जाना इस वृद्धि का कारण है। पर गवर्नमेंट को चाहिए था कि वह अपने कथन की पुष्टि में बिके हुए सब प्रकार के मादक पदार्थों की तोल प्रकाशित कर देती। हाँ, एक बात गवर्नमेंट के कथन की पोषक अवश्य है। वह यह कि सन् १९०१-०२ में गाँजा, भङ्ग और अफ़ीम आदि की २०,१५५ दुकानें थीं। पर सन् १९१०-११ में उनकी संख्या घट कर २०,०१४ रह गई। शराब की दुकानों की संख्या सन् १९०१-०२ में ८४,९२५ थी। १९१०-११ में घट कर वह ७१,०५२ रह गई। इस प्रकार इन १० वर्षों के भीतर सब प्रकार की दुकानों में १४,०२८ की कमी हुई।

१९१२-१३ में भी गाँजा, भङ्ग, अफ़ीम और शराब की सब मिला कर १६३२ दुकानें बन्द कर दी गईं। इससे तो यही सूचित होता है कि सरकार मादकता बढ़ाना नहीं चाहती। उसे धीरे-धीरे कम ही करना चाहती है।

गवर्नमेंट देशी तथा विदेशी शराब, गाँजा, भङ्ग और अफ़ीम आदि पर लगाये गये कर को अधिकाधिक कड़ा भी करती जाती है। जो लोग नशे की हालत में दङ्गा-फिसाद करते हैं, उन्हें वह सज़ा भी देती है। सन् १९११-१२ में म्युनिसिपैलिटी-वाले शहरों की हद के भीतर ३०,७४३ आदमियों ने इस जुर्म में सज़ा पाई। इन सभी बातों से गवर्नमेंट की शुभ-चिन्तना ही सूचित होती है।

देशी शराब की बिक्री बढ़ी है। इसका कारण यह है कि विदेशी शराब अब बहुत महँगी बिकती है। उस पर अधिक

कर लगा दिया गया है। इससे थोड़ी आमदनीवाले शराबी देशी शराब पीने लगे हैं। देशी शराब की सबसे अधिक बिक्री बम्बई प्रान्त में है। उसके बाद मदरास और फिर युक्त प्रदेश का नम्बर है। सन् १९११-१२ में बम्बई प्रान्त में २७,३३,०३४ गैलन देशी शराब की खपत हुई। उसी साल, मदरास में, १६,२८,१७८ गैलन और युक्त प्रदेश में १५,३८,५०४ गैलन।

मादक पदार्थों की सूची में अब एक नया पदार्थ भी शामिल हो गया है। उसका नाम कोकेन है। यह एक प्रकार का विष है, जिसके विशेष सेवन से मनुष्य का शरीर मिट्टी हो जाता है। दवा के काम के सिवा और किसी काम के लिए इसे बेचना जुर्म है। इसका प्रचार रोकने की चेष्टा गवर्नमेंट बड़े ज़ोरों से कर रही है। आशा है, इसके सेवन की आदत बहुत जल्द छूट जायगी।

कानपुर के कलेक्टर टाइलर साहब की रिपोर्ट पढ़कर हमें सबसे अधिक दुःख हुआ। वे कहते हैं कि कितने ही ब्राह्मण, बनिये, खत्री, ठाकुर और मुसलमान भी शराब पीने लगे हैं। यह पुरातन सामाजिक रीतियों के टूट जाने और धर्म पर अश्रद्धा होने का परिणाम है। नई रोशनी, नई शिक्षा-दीक्षा, नये ढंग की सामाजिक व्यवस्था ने इस अनाचार की सृष्टि की है। स्कूलों और कालेजों के कुछ लड़के तक इसकी लपेट में आ रहे हैं। ईश्वर इस बला से हमारी रक्षा करे। [मई १९१५.

२४

समुद्र के भीतर तार डालना

इस लेख में मराठी की बालबोध नामक पुस्तक से इस बात का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है कि मीलों गहरे समुद्र में, हज़ारों कोस तक, तार कैसे डाला जाता है। पाठक जानते ही होंगे कि यूरप और अमेरिका के बीच अटलांटिक समुद्र के भीतर तार पड़ा हुआ है। उसी की बदौलत लन्दन के तार-घर में बैठा हुआ कर्म्मचारी अमेरिका के न्यूयार्क में बैठे हुए कर्म्मचारी से उसी तरह बात-चीत कर सकता है, जिस तरह कि दो आदमी पास पास, या परस्पर मिली हुई दो कोठरियों में, बैठे हुए कर सकते हैं। कराची और स्वेज़ के बीच भी इसी तरह का तार समुद्र में पड़ा हुआ है। और भी अनेक द्वीप और नगर इसी प्रकार के सामुद्रिक तारों से जुड़े हुए हैं।

दृढ़ निश्चय की बदौलत मनुष्य कठिन से भी कठिन काम कर सकता है। वह पहाड़ फोड़ सकता है, समुद्र तोप सकता है, यहाँ तक कि वायुयान में बैठकर आकाश में उड़ भी सकता है। समुद्र में तार डालकर तार-यन्त्रों के द्वारा ख़बरें भेजना भी इसी तरह के दृढ़ निश्चय ही का फल है।

तार के यन्त्रों का प्रचार पहले-पहल जमीन पर हुआ।

समुद्र की छोटी छोटी खाड़ियों में भी बेठन लगे हुए तार डाल दिये गये। परन्तु हज़ारों मील दूर तक समुद्र के भीतर तार डालने का विचार जब इँगलैंड के कुछ लोगों के मन में उत्पन्न हुआ, तब वे बड़े सोच-विचार में पड़ गये। इँगलैंड और अमेरिका के बीच अटलांटिक महासागर है। उसका विस्तार सौ पचास मील नहीं, किन्तु हज़ारों मील है। बिजली का शास्त्र जाननेवाले बड़े बड़े विद्वानों ने बरसों माथापच्ची की। परन्तु उससे फल-प्राप्ति न हुई। उन्होंने कहा, समुद्र के भीतर जगह जगह पर बड़े बड़े और अत्यन्त गहरे खड हैं। उन सब की परीक्षा करके, उनसे बचकर, समुद्र के भीतर ही भीतर तार डालना असम्भव सा है। परन्तु एक साहसी पुरुष ने इन सब कठिनाइयों को हल करके तार द्वारा इँगलैंड को अमेरिका से जोड़ देने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

उसने पहले भँजे हुए तार की रस्सियों से अटलांटिक महासागर की परीक्षा की। उसने इस बात का पता लगाया कि किस जगह समुद्र कितना गहरा है। इस परीक्षा से उसे यह मालूम हो गया कि आयरलैंड और न्यूफौंडलैंड के बीच का महासागर बहुत गहरा नहीं; उसमें खड भी बहुत कम हैं। इसलिए उसने कहा—मैं पहले समुद्र के इसी भाग के भीतर तार डालकर देखूँगा कि यह काम हो सकता है या नहीं। परीक्षा से तो यही मालूम होता है कि समुद्र उथला है। इस कारण वह अवश्य ही तार डालने योग्य है।

ज़मीन के ऊपर का तार खम्भों पर लटकाते हुए ले जाते हैं; उसे पाठकों में से प्रायः सभी ने देखा होगा। उस तार के ऊपर कोई चीज़ लपेटने की ज़रूरत नहीं होती; क्योंकि वह आसमान में लटका रहता है। परन्तु जो तार समुद्र के भीतर डाला जाता है, उसे सुरक्षित रखने के लिए बहुत प्रबन्ध करना पड़ता है। बिजली ही की सहायता से तार द्वारा ख़बरें भेजी जा सकती हैं। एक तार-घर से दूसरे तार-घर तक बिजली का प्रवाह तार द्वारा बहाना पड़ता है। परन्तु पानी ऐसी चीज़ है कि यदि तार उससे छू जाय तो बिजली का प्रवाह उसी में चला जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जो तार समुद्र में डाला जाता है, उस पर बेठन लगाना पड़ता है। यह बेठन या आच्छादन किसी ऐसी चीज़ का होता है जिसके भीतर बिजली का प्रवाह नहीं घुस सकता। मतलब यह कि तार को किसी ऐसी चीज़ से मढ़ देते हैं जिसके कारण तार से पानी का स्पर्श नहीं होता। समुद्र में तार डालने के लिए पहले इस बेठन का झमेला करना पड़ता है। इसके सिवा इस बात का भी ख़याल रखना पड़ता है कि वह बेठन समुद्र के भीतर पड़े रहने से सड़ न जाय, अथवा अधिक दबाव और खिंचाव के कारण टूट भी न जाय। इन बाधाओं को दूर करने के लिए तार के ऊपर का बेठन बहुत ही मज़बूत लगाना पड़ता है। इस बेठनदार तार का अङ्गरेजी नाम 'केबिल' है। पहले ताँबे का एक गोल तार लेते हैं। फिर ताँबे के ही भँजे हुए छः तार उसपर

मज़बूती से लपेट देते हैं। उन सबका एक मज़बूत रस्सा सा हो जाता है। उसके ऊपर गटापर्चा नामक एक पदार्थ के, एक के ऊपर एक; ऐसे तीन बेठन लगाते हैं । इस पदार्थ में यह गुण है कि बिजली का प्रवाह इसके भीतर नहीं घुसता। इसी से तार के ऊपर इसके लगे रहने से ख़बर भेजने में कोई बाधा नहीं आती। परन्तु गटापर्चा के तीन बेठन लगाने पर भी यह डर रहता है कि उसके अत्यन्त सूक्ष्म छेदों की राह से पानी कहीं भीतर न चला जाय। यदि ऐसा हो तो बिजली का प्रवाह खण्डित होकर पानी में प्रविष्ट हो जायगा । इस दशा में ख़बर भेजना असम्भव हो जायगा । उस कठिनता को दूर करने के लिए गटापर्चा लगे हुए उस तार के ऊपर इसपात के तार लपेटे जाते हैं। इस से वह बहुत मज़बूत हो जाता है। न उसके टूटने ही का डर रहता है और न सड़ने ही का । पानी भी उसके भीतरी तार तक नहीं पहुँच सकता । ऐसा तार बनाने में बहुत ख़र्च पड़ता है । फ़ी मील कोई साढ़े चार हज़ार रुपया ख़र्च बैठता है। इँगलैंड में ऐसे कई कारखाने हैं जहाँ यह तार तैयार किया जाता है। इस व्यवसाय में इँगलैंड और सब देशों से आगे है।

जब आयरलैंड और न्युफौंडलैंड के बीच समुद्र में तार डालने का निश्चय हो गया, तब बहुत लोगों ने एकत्र होकर एक कम्पनी बनाई । कई प्रसिद्ध प्रसिद्ध एञ्जिनियर कार्य-कर्ता नियत किये गये। इस कम्पनी ने चार महीने में ढाई हज़ार

मील लम्बा तार तैयार कर लिया । वह तार बड़े बड़े दो जहाज़ों पर लादा गया । उन जहाज़ों को वे लोग 'वैलेंशिया बे' नामक बन्दरगाह में ले गये । यह बन्दरगाह आयरलैंड के समुद्री किनारे पर है । वहाँ पर उस केबिल का एक छोर ज़मीन में गाड़ दिया गया । फिर जहाज़ों पर लदे हुए उस तार को धीरे धीरे समुद्र में डालते हुए वे लोग अमेरिका की तरफ़ ले जाने लगे । परन्तु समुद्र में चार सौ मील तक डाले जाने पर वह अकस्मात् टूट गया और उसका टूटा हुआ सिरा गहरे समुद्र के भीतर न मालूम कहाँ चला गया । इस दुर्घटना से वह काम उस साल बन्द रहा ।

अगले साल केबिल डालने की एक नई रीति निकाली गई । निश्चय हुआ कि वे दोनों जहाज़ अटलांटिक महासागर के बीच में एक दूसरे से मिलें और वहीं से केबिल डालना आरम्भ करें । फिर एक जहाज़ केबिल डालते हुए न्युफौंडलैंड की तरफ़ जाय और दूसरा आयरलैंड की तरफ़ । इसके भी बाधक कारण उत्पन्न हो गये । उन दोनों जहाज़ों के परस्पर मिलने के पहले ही समुद्र में तूफ़ान आया । उससे एक जहाज़ को बड़ी आफ़त में फँसना पड़ा । जो लोग उस पर सवार थे, उन्हें बहुत तकलीफ़ हुई । केबिल के पर्वतप्राय ढेर, जो उस पर थे, जहाज़ हिलने से उछल उछल कर जहाज़ की दीवारें तोड़ने लगे । ऐसा मालूम होने लगा कि जहाज़ टूट कर डूब जायगा । परन्तु थोड़ी देर बाद तूफ़ान शान्त हो गया । जहाज़ वहाँ से

चला और सागर के बीच, नियत स्थान पर, वे दोनों एकत्र हुए। तब वहाँ से तार डालना शुरू किया गया। परन्तु फिर भी विघ्नों ने पीछा न छोड़ा। सात दफे केबिल टूटा और सातों दफे वह जोड़ा गया। आठवीं दफ़े फिर टूटा। उस समय जहाज़ फिर एक तूफ़ान में पड़ गये। तूफ़ान से, उनके ऊपर, कप्तान के कमरे के सारे यंत्र बिगड़ गये। जहाज़ चलाने के साधन नष्ट हो गये। अन्त को आजिज़ आकर वे लोग उन जहाज़ों को किसी तरह बन्दरगाह पर लौटा लाये। केबिल डालने के काम में फिर भी सफलता न हुई।

परन्तु उन साहसी और दृढ़प्रतिज्ञ लोगों ने हार न मानी। तीसरी दफे फिर भी वे वह काम करने निकले। इस दफे सफलता हुई अवश्य, पर विघ्न-बाधाओं ने इस दफे भी उनके नाकों दम कर दिया। एक बार एक बड़ी भयङ्कर मछली उस केबिल में फँस गई। जान पड़ा कि केबिल अब बिना टूटे न रहेगा। पर राम राम करके किसी तरह उन लोगों ने सफलता प्राप्त ही कर ली। सारे संकट झेल कर १६ अगस्त १७५७ को उन्होंने अमेरिका का सम्बन्ध तार द्वारा योरप से कर दिया। उस दिन सबसे पहली ख़बर जो भेजी गई, वह यह थी—"योरप और अमेरिका का सम्बन्ध तार द्वारा हो गया। परमेश्वर का जयजयकार! पृथ्वी पर सर्वत्र शान्ति रहे!"

यह केवल एक वर्ष चला। इसके बाद बन्द हो गया। उस से ख़बरें भेजना असम्भव हो गया।

इसके आठ वर्ष बाद फिर प्रयत्न किया गया। परन्तु कोई दो-तृतीयांश केबिल डालने के अनंतर वह टूट गया। ग्रेट ईस्टर्न नामक जहाज़ पर वह केबिल लदा था। वही उसे समुद्र में डाल रहा था। जहाँ पर केबिल टूटा था, वहाँ से वह लौट आया और दूसरा केबिल ले गया। उसे उसने शुरू से आख़ीर तक निर्विघ्न डाल दिया। यह काम करके उस टूटे हुए केबिल का सिरा समुद्र से निकालने के लिए उस जहाज़ ने फिर प्रस्थान किया। ढूँढ़ते ढूँढ़ते उसे पहले केबिल का टूटा हुआ सिरा, कोई १३०० बाँस गहरे पानी के भीतर मिल गया। उसे उसने यंत्रों की मदद से निकाला। फिर उस टूटे हुए सिरे को एक और केबिल में जोड़ कर वह उसे भी डालता चला और छोर तक डाल कर ही कल की। फल यह हुआ कि एक के बदले दो केबिल हो गये और दोनों काम देने लगे।

तब से आज तक इंगलैंड और अमेरिका के बीच और भी कई केबिल हो गये हैं। और देशों के बीच भी केबिल पड़ गये हैं। अब तो समुद्र के भीतर इन केबिलों का जाल सा बिछ गया है। उसने समग्र पृथ्वी को घेर सा लिया है। कोई २० हजार आदमी, इस समय केबिल बनाने के व्यवसाय में लगे हुए हैं। इसी से आप इस बात का अन्दाज़ा कर सकेंगे कि यह काम कितने महत्व का है। जिनका एक मात्र व्यवसाय केबिल डालना और उनकी मरम्मत करना है, ऐसे जहाज़ों की संख्या इस समय चौबीस से भी अधिक है। समुद्र में पड़े हुए सारे

केबिलों की लम्बाई, इस समय, २ लाख ५७ हजार मील है। जहाँ समुद्र बहुत गहरा है—मीलों गहरा है—वहाँ केबिल डालना बड़ा ही कठिन काम है। परन्तु अब तार और बिजली की विद्या इतनी उन्नत हो गई है और यंत्र भी इतने अच्छे बन गये हैं कि चाहे जितने गहरे समुद्र के भीतर केबिल टूट जाय, इन विद्याओं के ज्ञाता अपने यंत्रों की मदद से तत्काल बतला देते हैं कि अमुक जगह पर केबिल टूटा है। बस, उसी जगह जहाज़ पहुँचता है और केबिल को यंत्रों से उठा कर जोड़ देता है।

अच्छी तरह डालने से एक केबिल कोई चालीस वर्ष तक चलता है। जब पहले पहल केबिल डाला गया, तब फ़ी मिनट केवल दो शब्दों के हिसाब से ख़बरें भेजी जा सकती थीं। परन्तु अब तो एक मिनट में एक सौ शब्द तक भेजे जा सकते हैं। इस समय की बात ही और है। अब तो बे-तार की तार-बर्क़ी की बदौलत, दूर दूर तक, केबिल के बिना भी ख़बरें भेजी जा सकती हैं।

[जून १९१५.

२५

मक्खियों से हानि

साधारण आदमियों की दृष्टि और तत्वदर्शी विद्वानों की दृष्टि में बड़ा अन्तर है। साधारण जन अनेक विषयों को तुच्छ समझ कर छोड़ देते हैं—उनके सम्बन्ध में अधिक बातें जानने की चेष्टा ही नहीं करते। परन्तु तत्त्वदर्शी विद्वान् उन्हीं सामान्य विषयों की आलोचना करके कितने ही गूढ़ रहस्यों का पता लगाते हैं। फूल-फलों का पृथ्वी पर गिरना एक साधारण बात है। हम लोगों ने संख्यातीत बार फल टपकते देखा होगा और उसे मामूली बात समझ कर छोड़ दिया होगा। परन्तु सर आइज़क न्यूटन ने एक सेब को जमीन पर गिरते देख कर पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा लिया। ब्रुनेल ने छोटे छोटे कीड़ों को लकड़ी में सूराख करते देख कर टेम्स नदी का पुल बनाया, जो पृथ्वी के आश्चर्य-कारक पदार्थों में गिना जाता है। रेल, तार, बिजली की रोशनी आदि बुद्धि को चक्कर में डालनेवाली कितनी ही चीजें विद्वानों ने इसी तरह ईजाद की हैं।

इस समय संक्रामक रोगों की प्रबलता है। अतएव अनेक

विद्वान् इस बात का पता लगाने की चेष्टा कर रहे हैं कि किन किन जन्तुओं के संसर्ग से संक्रामक रोग फैलते हैं। चूहे, बिल्ली आदि घरेलू जीवों के द्वारा ऐसे रोगों के फैलने की बात तो कुछ दिन पहले ही सिद्ध हो चुकी थी। अब अमेरिका के एक विद्वान् ने मक्खियों को भी रोग फैलानेवाला साबित किया है।

अब तक लोग मक्खियों को हानिकारक न समझते थे। कितने ही कवियों ने मक्खी के भोलेपन के विषय में कवितायें तक लिखी हैं। परन्तु एन० ए० कॉब नामक एक अमेरिकन विद्वान् ने बहुत विचार और परीक्षा से यह साबित किया है कि मक्खियों से जन-समाज को बहुत हानि पहुँच सकती है।

कॉब साहब का कथन है कि मक्खियाँ बहुत तेजी के साथ एक जगह से दूसरी जगह जा सकती हैं। यह बात कई तरह से प्रमाणित होती है। जब कोई जहाज़ बन्दर पर पहुँचता है, तब बहुत दूर तक फैले हुए पानी को लाँघ कर मक्खियाँ उस पर आ जाती हैं। उस समय जहाज़ का ज़मीन से कोई लगाव नहीं रहता। मक्खियाँ वहाँ उड़ कर ही पहुँचती हैं। बहुधा यह भी देखा जाता है कि मक्खियाँ बहुत दूर तक चौपायों का पीछा करती हैं। मक्खियों के पंख चिड़ियों के डैनों से यथा-परिमाण भारी होते हैं। इससे मक्खियाँ जल्द नहीं थकतीं। यदि किसी कमरे में मक्खी को आप देर तक बराबर उड़ाते रहिए तो भी वह नहीं थकेगी और न घबड़ायगी।

बहुत से रोगों की उत्पत्ति छोटे छोटे अदृश्य कीटाणुओं से होती है। ये कीटाणु जीव-जन्तुओं के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। और, मक्खियों की यह आदत है कि वे भली-बुरी सभी जगह जाती हैं और रोगी तथा नीरोग सब तरह के आदमियों पर बैठती हैं। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मक्खियों के द्वारा रोग उत्पन्न करनेवाले कीटाणुओं के प्रसार में बहुत सहायता मिलती है।

इस अनुमान की सहायता की परीक्षा भी की गई है। परीक्षा से ऐसा भयङ्कर परिणाम देखने में आया है कि कॉब साहब ने उसे प्रकाशित करने का भी साहस नहीं किया। वे कहते हैं कि अपनी परीक्षा का ऐसा भयङ्कर फल देख कर मुझे खुद ही सन्देह होता है कि जाँच करने में किसी तरह की ग़लती ज़रूर हुई होगी। इसी से मैं उसे अभी प्रकट नहीं करना चाहता।

मक्खियों की बनावट विलक्षण होती है। उनके प्रत्येक पैर में दो दो पञ्जे और हलके रङ्ग की दो दो गद्दियाँ होती हैं। खुर-खुरी चीज़ों पर मक्खियाँ पञ्जे के बल बैठती हैं और चिकनी चीज़ों पर पञ्जे और गद्दियाँ दोनों के बल। इन गद्दियों पर हज़ारों छोटे छोटे बाल होते हैं। बालों के सिरे चिपचिपे होते हैं। जब मक्खी किसी रोगी के शरीर पर बैठती है, तब रोग के कीटाणु इन्हीं बालों के सिरे में चिपक जाते हैं। फिर दूसरी जगह

जाकर जब वह अपने पैर फैलाती या झाड़ती है, तब वे सब वहाँ गिर पड़ते हैं। मक्खियों के पैर चिपचिपे होते हैं। इससे उन्हें बार बार उसे साफ़ करना पड़ता है। पैरों में अधिक कीचड़ लग जाने से जैसे मनुष्यों को चलने में तकलीफ़ होती है और कीचड़ साफ़ करना पड़ता है, वैसे ही मक्खियों को अपने पैर साफ़ करने पड़ते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उन्हें चिकनी चीज़ों पर बैठने में बड़ी दिक़्क़त हो।

मक्खी का सिर, विशेष करके उसका मुँह, बड़ा ही बिलक्षण होता है। उसके सिर के बढ़ाये हुए चित्र को देख कर डर सा लगता है। कॉब साहब ने परीक्षा करके देखा कि जब कभी मक्खियाँ किसी सड़ी-गली चीज़ पर या किसी रोगी के बदन पर बैठ जाती हैं, तब अनेकानेक कीटाणु उनके पैरों में चिपक जाते हैं और वे उन्हें दूसरी जगह पहुँचा देती हैं। मक्खियों का यह कार्य मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हानिकारक है।

अमेरिकावाले मक्खियों को सपरिवार अपने देश से निकाल देने अथवा उनका मूलोच्छेद करने की फ़िक्र कर रहे हैं।

[जून १६१५.

२६

भारत के पहलवानों का विदेश में यशोविस्तार

गत पौष मास के "प्रवासी" नामक बँगला मासिक पत्र में भारतीय पहलवानों के विषय में एक अच्छा लेख निकला है। लन्दन में व्यायाम-सम्बन्धी एक सभा है। श्रीशचीन्द्रनाथ मजूमदार उसके मेम्बर हैं। उन्होंने, लन्दन से, यह लेख प्रकाशित कराया है। आपके लेख में भारतीय पहलवानों के विषय की अनेक बातें हैं। उनमें से कुछ का मतलब नीचे दिया जाता है—

कुश्ती में भारतवासियों ने बड़ा नाम पाया है। किसी समय यह कला भारत में बहुत उन्नति पर थी। पर अब दिन पर दिन इसका ह्रास हो रहा है। जो दो-चार पहलवान रह गये हैं, उनके मरने पर, डर लगता है, कि कहीं यह कला लुप्त-प्राय ही न हो जाय। युयुत्सु नामक जिस जापानी कसरत की इतनी प्रशंसा है, वह कोई नई चीज़ नहीं। वह हमारी व्यायाम-कला ही की एक शाखा है। बनेठी में और उसमें बहुत ही कम अन्तर है। इस कला को जीवित रखने और इसकी उन्नति करने की बड़ी आवश्यकता है।

कुछ वर्ष हुए, पेरिस में एक प्रदर्शिनी हुई थी। उसमें इलाहाबाद के नामी वकील पण्डित मोतीलाल नेहरू गुलाम नामक पहलवान को अपने साथ ले गये थे। वहाँ विख्यात तुर्की पहलवान मादरअली के साथ गुलाम की कुश्ती हुई। गुलाम ने बात की बात में अपने प्रतिपक्षी को ज़मीन दिखा दी। योरपवालों की दृष्टि में गुलाम से बढ़कर और कोई पहलवान संसार में न दिखाई दिया।

१९०९-१० में बेंजामिन साहब तीन पहलवान भारत से विलायत ले गये—गामा, गामू और इमामबख्श। अमेरिका के नामी पहलवान डाक्टर रोलर के साथ गामा की और स्विट्ज़रलैंड के प्रसिद्ध पहलवान लेम (Lemm) के साथ इमामबख्श की कुश्ती ठहरी। दो लाख रुपया जमा करके इक़रारनामे लिखे गये। रोलर और लेम को विलायतवाले अजेय समझते थे। २० मिनट में गामा ने रोलर को और १२ मिनट में इमामबख़्श ने लेम को चित्त कर दिया। यह देखकर, सारे योरप ने दाँतों तले उँगली दबाई। गुलाम का नाम पञ्जाब-केसरी (The Lion of the Punjab) और इमामबख्श का पुरुष-व्याघ्र (The Panther) रक्खा गया। इस विजय के उपलक्ष्य में गुलाम को १५ हज़ार रुपया नक़द, और दर्शकों का टिकट बेचने से जो रुपया जमा हुआ था, उसमें से भी ७० फ़ी सदी उसे मिला। इमाम बख़्श ने ७ हज़ार पाया। टिकट की बिक्री से प्राप्त रुपये में से ७० फ़ी सदी उसने भी पाया।

इसके कुछ दिन बाद आस्ट्रिया के जगद्विजयी पहलवान बिस्को के साथ गामा की कुश्ती निश्चित हुई। गामा ने इक़रार-नामे में लिखा कि एक घण्टे में मैं बिस्को की पीठ को ज़मीन दिखा दूँगा। पर शरीर में बिस्को गामा से दूना था। इस कारण गामा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सका। तथापि २¾ घण्टे तक गामा ने उसे अपने नीचे रक्खा। कुश्ती न निपटी। इस कारण दूसरे दिन फिर लड़ने की ठहरी। पर बिस्को देवता दूसरे दिन वहाँ से चम्पत हो गये। तदनन्तर गुलाम के छोटे भाई इमामबख्श की कुश्ती आयरलैंड के पहलवान पैट कनोली (Pat Connolly) के साथ हुई। इमाम ने हाथ पकड़ते ही पकड़ते पैट को पटक दिया।

बहुत दिन की बात है। जगज्जयी पहलवान टाम केनन (Tom Cannon) दिग्विजय करने के इरादे से घूमते घामते कलकत्ते आया। कूच-बिहार के तत्कालीन महाराज नृपेन्द्र-नारायण भूप बहादुर ने गुलाम के पिता रहीम को टाम से लड़ाया। कुश्ती में रहीम ही की जीत रही। टाम दूसरे ही दिन कलकत्ते से रफ़ू-चक्कर हो गया। रहीम से परास्त होने पर भी यह विख्यात अँगरेज़ पहलवान "अपराजित जगद्विजयी" (Undefeated World's Champion) माना जाता है।

भारत को लौट कर बेंजामिन साहब १९१२ ईसवी में, यहाँ से प्रोफेसर राममूर्ति को इँगलैंड ले गये। साथ ही अहमद-बख्श, रहीम और गुलाम मुहीउद्दीन आदि चुने चुने सोलह

पहलवान और भी ले गये। जब से गामा विलायत गया, तब से विलायतवाले भारतीय पहलवानों से डर से गये थे। इस कारण वहाँ का कोई भी पहलवान इन लोगों से कुश्ती लड़ने पर राज़ी न हुआ। कुछ दिन बाद फ्रांस और स्विट्ज़रलैंड का प्रसिद्ध पट्ठा, मारिस डिरियाज़, (Maurice Deriaz) लन्दन आया। अहमदबख़्श से उसकी कुश्ती हुई। अहमदबख़्श ने उसे पहली दफ़े ६६ सेकंड में और दूसरी दफ़े १ मिनट में ज़मीन दिखा दी। इस पर योरप भर में आतङ्क सा छा गया। तब डिरियाज़ के मैनेजर ने आर्मंड कारपिलड (Armand Charpillod) नाम के एक बड़े ही बली पहलवान को बुलाया। पर अहमद बख्श ने उसे चार ही मिनट में पटक दिया। दुबारा लड़ने के लिए उसे लोगों ने बहुत उत्साहित किया, पर आर्मंड ने किसी की न मानी।

१९१३ ईसवी में मारिस डिरियाज़ के प्रयत्न से पेरिस में पहलवानों का एक सम्मिलन हुआ। उसमें डिरियाज़ को पदवी मिली—"मध्यवर्ती वज़न का उस्ताद" (Middle Weight Champion)। इससे सिद्ध है कि योरपवालों की उस्ताद—संज्ञा एक दुर्ज्ञेय वस्तु है।

इंगलैंड में जब कोई पहलवान कुश्ती लड़ने पर राज़ी न हुआ, तब निराश हो कर गुलाम मुहीउद्दीन इत्यादि पहलवान फ्रांस गये। वहाँ मारिस गाम्बिये (Maurice Gambier) इत्यादि कोई ५० पहलवानों को उन्होंने परास्त किया। वहाँ

से वे सब अमेरिका गये। वहाँ कार्ला नामक भारतीय पहलवान की कुश्ती बिस्को के साथ हुई। बिस्को ने उसे दो दफे पछाड़ा। कार्ला ने वहाँ उस दुरपनेय कलङ्क से भारतीय पहलवानों का मुँह काला कर दिया। अहमद बख्श वगैरह इस आशा से अमेरिका गये थे कि संसार के सर्वश्रेष्ठ पहलवान फ्रांक गोच (Frank Gotch) के साथ कुश्ती खेलेंगे। किन्तु धूर्तराज गोच लड़ने पर राज़ी न हुआ। लोगों के बहुत समझाने बुझाने का भी कुछ फल न हुआ। तब सारे भारतीय पहलवान निराश होकर स्वदेश लौट आये।

कोई दो वर्ष का समय हुआ, श्रीयुक्त बाबू यतीन्द्रमोहन गुह उर्फ गोबर विलायत गये। इंगलैंड-वासी गोबर की व्यायाम-पद्धति देख कर आश्चर्यचकित हो गये। हेल्थ एँड स्ट्रेंग्थ (Health and Strength) नाम की पत्रिका ने गोबर की बड़ी प्रशंसा की। लिखा—

"Gobar, for instance, who is in England now, swings clubs that no ordinary Englishman could lift, and carries a stone-collar of prodigious weight round his neck."

अर्थात् गोबर इतने वज़नी मुद्गर हिलाता है जितने कोई मामूली अंगरेज़ उठा भी नहीं सकता। वह अपनी गर्दन में पत्थर का एक बहुत वज़नी घेरा डाल कर मज़े में घूमता फिरता है।

गोबर ने पहले एडिनबरा में जिमी कैम्बेल और फिर जिमी इशान नामक पहलवानों को हराया। पहली कुश्ती में हार खा कर दूसरी में इशान ने गोबर को घूँसा मारा। ऐसा करना मना है। इस कारण पञ्चों ने कुश्ती बन्द करा दी और हार इशान के नाम लिखी गई। इस कुश्ती के उपलक्ष्य में गोबर को २२ हज़ार रुपया मिला। टिकटों की बिक्री से जो आमदनी हुई थी, उसमें से भी ७० फी सदी रुपया गोबर को मिला।

इसके बाद गोबर फ्रांस गये। वहाँ दो चार पहलवानों को पछाड़ कर वे गोच से लड़ने के इरादे से अमेरिका पहुँचे। परन्तु उनकी इच्छा-पूर्ति न हुई। गोच ने लड़ने से इनकार कर दिया।

गत वर्ष गोच ने अखाड़े से छुट्टी ले ली—मल्लशाला से उसने इस्तेफा दे दिया। बात यह कि—"बहुत यश कमाया; बहुत कुश्तियाँ मारीं। हो चुका। बस अब न लड़ेंगे!" इस प्रकार अवसर ग्रहण करके गोच ने अमेरिकस (Americus) नामक पहलवान को अपनी जगह पर निर्वाचित किया। अर्थात् उसे पृथ्वी-मण्डल के पहलवानों में श्रेष्ठ स्वीकार किया। परन्तु इस सर्वश्रेष्ठ अमेरिकस को आयरिश पहलवान पैट कानली ने पछाड़ दिया। इस कारण कानली को "जगज्जयी उस्ताद" (World's Champion) की पदवी मिली। इसी कानली को इमामबख्श ने पछाड़ा था। वह योरप के भी कई पहलवानों

से हार खा चुका था। तिस पर भी वह समग्र भूमण्डल का चक्रवर्ती पहलवान ! और बेचारा इमाम बख्श ? वह किस गिनती में !

तमाशा दिखानेवाले पहलवानों में हमारे यहाँ राममूर्ति, हिम्मतबख्श, कृष्णदास सील, भवानी शाह और जी० पी० गर्ग विशेष प्रसिद्ध हैं। राममूर्ति आदि कई पहलवान अपनी छाती पर हाथी चढ़ा लेते हैं। राममूर्ति के पहले किसी ने भी यह करतब न दिखाया था। वे १०० मन वज़नी पत्थर पीठ पर रख कर जमीन पर फेंक देते हैं; २२ घोड़े की ताकत की मोटर रोक लेते हैं; लोहे की मोटी जञ्जीर कलाई फुला कर तोड़ देते हैं; और आदमियों से लदी हुई दो बैल-गाड़ियाँ अपनी छाती के ऊपर से निकाल देते हैं। भवानी उर्फ भवेन्द्र भी यह सब कर दिखाते हैं। उनका नाम भीम भवानी है। उनकी उम्र अभी केवल २६ वर्ष की है। १२ वर्ष की उम्र से वे कसरत करने लगे थे। उनकी छाती की माप ४२ इञ्च और राममूर्ति की छाती ४८ इञ्च है। फैलाने पर राममूर्ति की छाती ५७ और भीम भवानी की ४८ इञ्च हो जाती है। भीम भवानी बहुत दिनों तक प्रोफेसर राममूर्ति के सरकस में थे।

[मार्च १६१६.